सम्पादक :
डॉ० सत्यव्रत,
नेमिनाथमहाकाव्यम्

प्रथम संस्करण
फरवरी, १९७५ (वसन्तपचमी स० २०३१)
मूल्य १० रु०

प्रकाशक
१–अगरचन्द नाहटा, बीकानेर
२-नाहटा ब्रदर्स ४ जगमोहन मल्लिक लेन
कलकत्ता–७

मुद्रक :
हर्षगुप्त
राष्ट्रीय प्रेस,
डैम्पियर नगर, मथुरा।

विद्यावारिधि, सिद्धान्ताचार्य,

साहित्यवाचस्पति आदि

उपाधि-विभूषित

जैन साहित्य

के

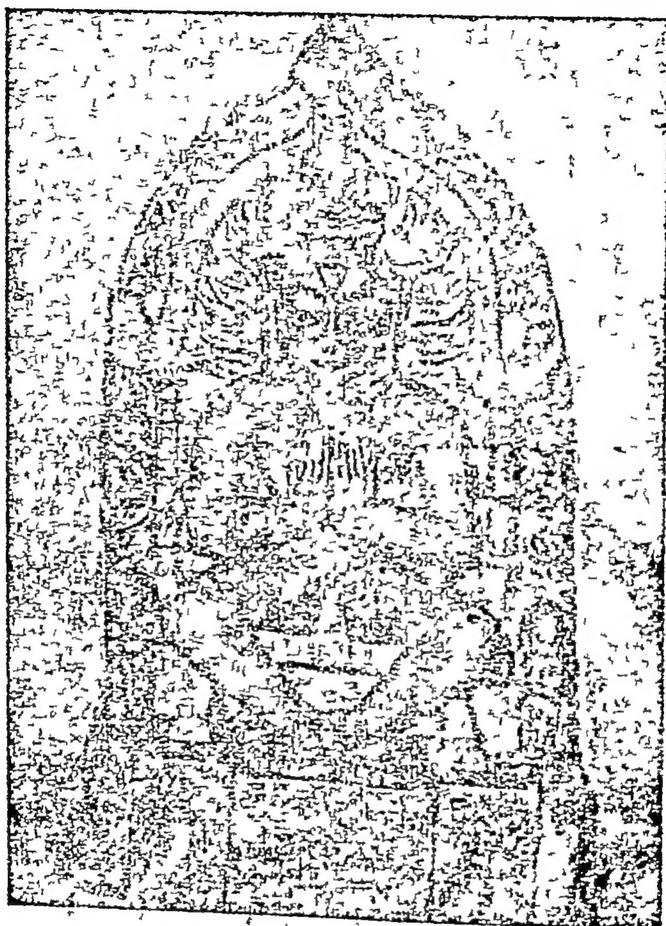
प्रकाण्ड विद्वान्

श्रीयुत अगरचन्द नाहटा को

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।



आचार्य श्रीकीर्त्तिरत्नसूरि मूर्त्ति (नाकोड़ा तीर्थ)



उत्कीर्ण लेख

ॐ स० १५३६ वर्पे श्रीकीर्त्तिरत्नसूरि गुरुभ्यो नम सा० जेठा पुत्री रोहिनी प्रणमति
(जन्म स० १४४९ चैत सुदि ८ शुक्र, दीक्षा सं० १४६३ आषाढ वदी ११,
वाचनाचार्य पद स० १४७०, उपाध्याय पद स० १४८० वै० शु०१०,
आचार्य पद सं० १४९७ माघ शु० १० जेसलमेर,
स्वर्गवास स० १५२५ वै० व०५ वीरमपुर)
(नाकोड़ा पार्श्वनाथतीर्थ कमेटी के सौजन्य से)

प्रकाशकीय

लगभग ४७ वर्ष पूर्व परमपूज्य जैनाचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी के सदुपदेश से पूज्य पिता श्री शकरदानजी ने हमारे ज्येष्ठ भ्राता श्री अभयराज जी नाहटा की पुण्यस्मृति मे अभय जैन ग्रन्थमाला का प्रवर्तन किया था, जिसके अन्तर्गत प्रकाशित इकतीस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ धर्म व इतिहास प्रेमियो के समक्ष रखे जा चुके है। किन्तु जनता के सहयोग एव प्रचार के अभाव मे साहित्योद्धार का यह गौरवपूर्ण कार्य आशानुरूप गतिशील नही हो सका।

अभी भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव-वर्ष के शुभ अवसर पर सुविख्यात खरतरगच्छीय विद्वान एव शासन-प्रभावक कीर्तिरत्नसूरि-कृत नेमिनाथ महाकाव्य को उक्त ग्रन्थमाला के ३२ वें पुष्प के रूप मे प्रकाशित करते अपार हर्ष हो रहा है। इसका सम्पादन जैन सस्कृत महाकाव्यो के मर्मज्ञ डॉ० सत्यव्रत ने किया। आपने जैन सस्कृत महाकाव्यो को अपने विशेषाध्ययन का विषय बनाया और इसी पर शोध करके डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है। अत आपके द्वारा सुसम्पादित इस काव्य का निजी महत्त्व है। काव्य का हिन्दी अनुवाद, समीक्षात्मक विश्लेषण, सुभाषित-नीवी एव पद्यानुक्रमणिका देने से ग्रन्थ की उपयोगिता और बढ गयी है। आशा है, यह ग्रन्थ विद्वज्जनो के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रकाशन मे मुनिराज श्री जयानन्दमुनि जी के सदुपदेश से श्री महावीर स्वामी मन्दिर पायधुनी, श्री चिन्तामणिजी का मन्दिर बम्बई, खरतरगच्छ सघ भुज, माडवी और जामनगर से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है एतदर्थ हम पूज्य मुनि श्री और उक्त सस्थाओ के ट्रस्टियो के विशेष आभारी है। इस ग्रन्थ के विक्रय से जो धनराशि प्राप्त होगी, उसे अन्य ग्रन्थो के प्रकाशन मे व्यय किया जाने की योजना है।

पूज्य श्री देवचन्द्र-रचित अध्यात्म प्रबोध, देशनासार एवं द्रव्य प्रकाश मुद्रणाधीन हैं। श्रीजिनप्रभसूरिचरित्र तो शीघ्र ही प्रकाशित हो चुका है। योगिराज श्री चिदानन्दजी के पदों का हिन्दी विवेचन एवं बाल ग्रन्थावली (जैन कथा संग्रह) मुद्रणार्थ भेजी जा चुकी है। कतिपय अन्य ग्रन्थ भी तैयार हैं जो सुविधानुसार प्रकाशित होंगे।

अभय जैन ग्रन्थालय की तरह अग्रज अभयराज जी की स्मृति में अभयजैन ग्रन्थालय भी बीकानेर में स्थापित किया गया था जो आदिनाथ जैन मन्दिर बीकानेर के सम्मुख स्वतन्त्र भवन में स्थित है? इसमें हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों का अद्वितीय महान् संग्रह है। इसी प्रकार पूज्य पिताजी की पवित्र स्मृति में 'शंकरदान नाहटा कला भवन' अभय जैन ग्रन्थालय के ऊपरी भाग में स्थापित किया गया है, जिसमें प्राचीन कलात्मक विशिष्ट सामग्री प्रयत्न पूर्वक संगृहीत की गयी है। ये दोनों संस्थायें कला, पुरातत्त्व, इतिहास एवं साहित्य के शोधार्थियों तथा प्रेमियों के लिए वरदान स्वरूप हैं।

—अगरचन्द नाहटा

आमुख

गुण तथा परिमाण मे विपुल होता हुआ भी जैन विद्वानो द्वारा रचित सस्कृत-साहित्य, अधिकाश में, उपेक्षित है। जहाँ जैनेतर अध्येताओ ने इसे साम्प्रदायिक अथवा प्रचारवादी कह कर इसका अवमूल्यन करने की चेष्टा की है, वहाँ जैन विद्वानो का उत्साह दार्शनिक तथा धार्मिक साहित्य पर ही अधिक केन्द्रित रहा है। ललित साहित्य की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नही, यद्यपि जैन लेखको ने काव्य, नाटक, चम्पू, महाकाव्य, स्तोत्र आदि सभी विधाओ पर मूल्यवान् ग्रन्थो की रचना करके साहित्यिक निधि को समृद्ध बनाया है। इस वैविध्य एव व्यापकता के कारण सस्कृत-साहित्य के क्रमबद्ध इतिहास के ज्ञान, विकासमान प्रवृत्तियो के क्रमिक अध्ययन और तथाकथित सुप्त युगो की साहित्यिक गतिविधि से परिचित होने के लिए जैन सस्कृत-साहित्य की उपयोगिता स्वयसिद्ध है। फिर भी अधिकतर आलोचको ने जैन ललित साहित्य को अपने अनुसन्धान का विषय नही बनाया, यह आश्चर्य की बात है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने सस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियो के योगदान का मूल्याकन करने का भगीरथ प्रयत्न किया है[1]। किन्तु पन्द्रह-सोलह शताब्दियो की विराट् काव्यराशि के सभी पक्षो के साथ एक ग्रन्थ के सीमित कलेवर मे न्याय कर पाना सम्भव नही है। इसीलिये विषय-वस्तु की विशालता के कारण यह ग्रन्थ आलोच्य काल के काव्य का सम्पूर्ण मानचित्र प्रस्तुत करने की बजाय उसकी रूप-रेखा मात्र बन कर रह गया है। अज्ञात अथवा अप्रकाशित जैन साहित्य का सर्वांगीण विमर्श स्वतन्त्र ग्रन्थो के द्वारा ही किया जा सकता है। सौभाग्यवश कुछ सुधी विद्वान् इस दृष्टि से जैन सस्कृत-साहित्य के अध्ययन मे प्रवृत्त हुए हैं। जैन संस्कृत नाटको का अध्ययन मगध विश्वविद्यालय की पी-एच. डी उपाधि का पात्र बना है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन सस्कृत-महाकाव्यो पर रचित डॉ० श्यामशकर दीक्षित के शोध प्रबन्ध का प्रथम भाग प्रकाशित

---

१. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री सस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियों का योगदान, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् १९७१

हो चुका है[२] । पन्द्रहवी, सोलहवी तथा सतरहवी ईस्वी शताब्दियो के जैन सस्कृत महाकाव्यो का सागोपाग विवेचन प्रस्तुत लेखक ने अपनी शोध-कृति मे प्रस्तुत किया है, जिसे राजस्थान विश्वविद्यालय ने पी-एच डी उपाधि से सम्मानित किया है । इसी प्रकार कतिपय अन्य ग्रन्थो की भी रचना हुई है ।

पन्द्रहवी शताब्दी के प्रख्यात खरतरगच्छीय आचार्य कीर्त्तिराज उपाध्याय(बाद मे कीर्त्तिरत्नसूरि नाम से ख्यात)का नेमिनाथमहाकाव्य अपने काव्यात्मक गुणो,शैलीकी प्रामादिकता,काव्य-रूढियो के विनियोग तथा तत्कालीन प्रवृत्तियो के समावेश आदि के कारण जैन-साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचना है । अतीत मे यह काव्य दो बार प्रकाशित हुआ है, किन्तु अब लगभग अप्राप्त है । हर्षविजय की सरलार्थ प्रकाशिका टीका के साथ नेमिनाथमहाकाव्य विजयधनचन्द्रसूरि-ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप मे प्रकाशित हुआ था । हर्षविजय की टीका काव्य के चित्रकाव्यात्मक अश को समझने के लिए निस्सन्देह उपयोगी है । परन्तु टीकाकार समीक्षात्मक बुद्धि मे वचित है । उसने काव्य के उपलब्ध पाठ को यथावत् स्वीकार किया है तथा भ्रामक अशो की हास्यास्पद व्याख्या की है । प्रस्तुत ग्रन्थ मे बहुधा विजयधनचन्द्रसूरि-ग्रन्थमाला मे प्रकाशित पाठ को ही आधार बनाया गया है, किन्तु पाठ-शोधन के उद्देश्य मे इसका मिलान काव्य की प्राचीनतम हस्तप्रति (सम्वत् १४९५) से यशोविजय जैन ग्रन्थमाला (३८) मे प्रकाशित सस्करण तथा कवि के जीवन-काल, सम्वत् १५०२ मे लिखित महिमाभक्ति ज्ञान-भण्डार, बीकानेर की प्रति से किया है.[३], जिसके फलस्वरूप अनेक रोचक

---

२ डॉ० श्यामशकर दीक्षित तेरहवी-चौदहवी शताब्दी के जैन-सस्कृत-महाकाव्य, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, सन् १९६९

३ सम्वत् १५०२ वर्षे श्रीबृहत्खरतरगच्छे श्रीमालवदेशे श्रीमण्डपदुर्गे श्रीमालज्ञातौ वैद्यगोत्रीय सं० रूपाभार्या सूया तत्पुत्रेण स गजपति-सुश्रावकेण बाधवपारससहितेन श्रीनेमिजिनेन्द्रचरित वा० लावण्यशीलगणिनिदेशेन हरशेखरगणिपठनाय स्वश्रेयोर्थं लेखितम् ।

लिपिकार की अन्त्य टिप्पणी

पाठ प्रकाश मे आये हैं। बीकानेर-प्रति का पाठ निसन्देह अधिक प्रामाणिक तथा मान्य है। जिन पाठो को लेकर हर्षविजय ने व्यर्थ खीचतान की है और काव्यार्थ के प्रकाशन के स्थान पर उसका सगोपन किया है, उन स्थलो पर महिमाभक्ति ज्ञान-भण्डार की हस्तप्रति शुद्ध पाठ प्रस्तुत करती है। काव्य के प्रासगिक पद्यो से विदित होगा कि 'तुषारभूषाशुकभूषिताग' की अपेक्षा 'तुषारचोक्षाशुकभूषिताग' (३।८), 'स्वयूथनाथैरिव' के स्थान पर 'स्वयूथनागैरिव' (३/६), 'स्वस्थाम्मसीव' की बजाय 'स्वच्छाम्भसीव' (४/४०), 'ननु वत्सला' की अपेक्षा 'सुत वत्सला' (६/३८), 'ललनदोलनयोग्रहज' की तुलना मे 'ललनदोलनदोर्ग्रहज' (८/२८।, 'विनयभक्तिमानद' के स्थान पर 'विनयभक्तिवामन' (१२/२४), 'यशासि विचरन्ति' की अपेक्षा 'यशासि विसरन्ति' (१२/४५) पाठ अधिक सठीक, सार्थक तथा प्रसग-सम्मत हैं। तुलनात्मक दृष्टि से हमने जिस पाठ को स्वीकार किया है, उसे काव्य के कलेवर मे रखा है, पाठान्तर का उल्लेख, उसके स्रोत के निर्देश-सहित, पाद-टिप्पणी मे किया है। उक्त आधारभूत स्रोतो मे पूर्ण साम्य होने पर भी हमने कतिपय अन्य चिन्त्य पाठो का सशोधन करने का साहस किया है। सशोधित पाठ कितने सार्थक हैं, इसका निर्णय विद्वान् पाठक करें। किन्तु वे प्रसग में मूल पाठ की अपेक्षा अधिक उपयुक्त तथा अर्थवान् हैं, इसमे सन्देह नही।

इस प्रकार नेमिनाथमहाकाव्य का समीक्षित पाठ यहाँ प्रथम बार प्रस्तुत किया गया है। फलत वर्तमान सस्करण का पाठ पूर्ववर्ती सस्करणो की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है। असस्कृतज्ञ पाठक भी काव्य का रसास्वादन कर सके, इसलिये इसका हिन्दी मे अविकल अनुवाद किया है। अनुवाद दुस्साध्य कार्य है। मूल भाव को, उसके समूचे सौन्दर्य के साथ, अनुवाद मे उतारना कठिन है। सस्कृत-काव्य की भाव-सम्पदा को हिन्दी मे व्यक्त करते समय यह कठिनाई और भी बढ जाती है, क्योकि दोनो भाषाओ की मूल प्रकृति भिन्न है। हमने मूल के निकट रह कर उसके काव्य-सौन्दर्य को रूपान्तरित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया है। फिर भी श्लेषो तथा विरोधाभासो की आत्मा अनुवाद में पूर्णतया बिम्बित हो गयी है, यह दावा करना साहसपूर्ण

होगा। किन्तु यदि अनुवाद से उपाध्याय कीर्त्तिराज की कविता को कविता को समझने मे तनिक भी सहायता मिली तो हमारा श्रम सार्थक होगा। भावो के विशदीकरण के लिए ही यत्र-तत्र हर्षविजय की टीका के उद्धरण दिए हैं। आरम्भ मे, एक निबन्ध मे काव्य की गरिमा के मूल्याकन तथा सौन्दर्य के प्रकाशन के उद्देश्य से इसका समीक्षात्मक विश्लेषण किया है। आशा है इससे काव्य रसिको तथा समीक्षको को तोष होगा।

मुझे जैन साहित्य में प्रवृत्त करने का सारा श्रेय शोधाचार्य श्री अगरचन्द नाहटा को है। उन्होने 'कीर्त्तिरत्नसूरि और उनकी रचनायें' निबन्ध लिखकर काव्य को गौरवान्वित किया है। इसके प्रकाशन की व्यवस्था भी उन्होने ही की है। महिमाभक्ति ज्ञानभडार की पूर्वोक्त प्रति भी मुझे नाहटा जी के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इन सब उपकारो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हुआ मैं यह ग्र थ उन्हीं को समर्पित करता हूँ।

फरवरी १९७५ **सत्यव्रत**

संकेत-सूची

महि० = महिमाभक्ति ज्ञानभडार, बीकानेर की प्रति सं० १५०२ लि०

वि० मा० = विजयधर्मसूरि जैन ग्र थमाला मे प्रकाशित काव्य का सटीक पत्राकारसंस्करण

यशो० मा० = यशोविजय जैन ग्र थमाला मे प्रकाशित काव्य का संस्करण

टीका = काव्य की हर्षविजयकृत टीका

आचार्यरत्न कीर्तिरत्नसूरि और उनकी रचनाऐं

(ले०—अगरचन्द नाहटा)

आचार्य कीर्तिरत्नसूरि महान विद्वान और त्यागी वैरागी सन्त पुरुष थे। वे पञ्च-परमेष्ठि मे गौरवशाली तृतीय आचार्यपद धारक शान्तमूर्ति प्रभावशाली महापुरुष और खरतर-गच्छ रूपी गगनाङ्गण के ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र थे। आप शिष्य-वर्ग को अध्ययन कराने में सिद्ध हस्त उपाध्याय, गच्छ भेद वितण्डा से दूर और गच्छनायक को गच्छ, धुरा, धारण में एक कुशल सहयोगी थे। आपका प्रस्तुत नेमिनाथ महाकाव्य सृजन सौष्ठव और प्रासाद युक्त एक सफल प्रेरणास्पद ग्रन्थ है जिसके साथ आपका परिचय यहां देना आवश्यक है।

वश परिचय—ओसवाल ज्ञाति मे कोचर साह वडे नामाकित पुरुष हुए हैं। वे सखवाली नगरी के अधिवासी थे अत आपके वशज सखवाल, सँखवालेचा या सँखलेचा गोत्र नाम सेप्रसिद्ध हुए। कोचर साह ने वहाँ ऋषभदेव भगवान का मन्दिर वनवाया,अनेक तीर्थों के सघ निकाले थे जिनका वर्णन कोचर व्यवहारी रास' तथा अन्यत्र भी कई वशावलियो आदि मे मिलता हैं। कोचर शाह की लघु भार्या के पुत्र सा० रोला और मूला थे। उनके पुत्र सा० आपमल्ल और देपमल्ल हुए। देपमल की भार्या का नाम देवलदेवी था। उनके और १ लाखा२मादा ३ केल्हा और४देल्हा चार पुत्र थे। यह वश वडा समृद्धि-शाली था। इन्हे सात पीढी तक लक्ष्मी स्थिर रहने का वरदान था। चतुर्थ पुत्र देल्हा ही हमारे चरित्रनायक थे। इनका जन्म सवत् १४४९ चैत्र सुदि ८ शुक्रवार के दिन वीरमपुर-महेवा मे हुआ। आप वडे रूपवान और विचक्षण वुद्धि वाले थे अत अल्पकाल मे ही अच्छा विद्याध्ययन कर लिया था। माता-पिता ने इनकी सगाई १३ वर्ष की अवस्था मे ही राडद्रह में की थी। विवाह के लिए वरात सजाकर आये और गाँव के वाहर ठहरे। मध्यान्ह मे जब सभी

खेल-क्रीडा कर रहे थे तो एक राजपूत ठाकुर ने कहा जो इस खेजडी को वरछी सहित ढकावेगा उसे मैं अपनी पुत्री दूंगा। देल्हकुमार के साथ अपना प्राणप्रिय खवास राजपूत नौकर था जिसे सकेत दिया तो उसने इस कार्य का वीडा उठाया। उसने राजपूत की चुनौती स्वीकार कर कार्य कर दिखाया पर वरछी से आहत होकर वह तत्काल मर गया। देल्हकुमार इस करुण मृत्यु को देखकर एक दम विरक्त हो गया। उस समय वहाँ क्षेमकीर्ति उपाध्याय श्री जिनवर्द्धनसूरिजी के साथ स्थित थे, उनके उपदेश से वैराग्य-रग सयम-मार्ग की ओर भी दृढ हो गया और समस्त कुटुम्बी जनो को समझा वुझा कर महोत्सव पूर्वक स० १४६३ मिती आषाढ वदि ११के दिन श्री जिनवर्द्धनसूरिजी के कर-कमलो से दीक्षा ली। गुरु-महाराज वडे प्रभावक और विद्वान आचार्य थे। आप उनके पास जैनागम एव व्याकरण, काव्य, छन्द, न्याय आदि सभी विषयो का अध्ययन करके विद्वान-गीतार्थ वने। आपका दीक्षा नाम कीर्तिराज रखा गया था। स० १४७० मे पाटण नगर मे श्री जिनवर्द्धनसूरिजी ने आपको वाचक पद से अलकृत किया। आपने गुजरात, राजस्थान उत्तर प्रदेश और पूर्व के समस्त तीर्थो का यात्रा की। राजस्थान मे तो आपका विचरण सविशेप हुआ।

आप कितने ही वर्षो तक श्रीजिनवर्द्धनसूरिजी की आज्ञा मे उनके साथ विचरे। वाद मे कहा जाता है कि जैसलमेर मे प्रभु मूर्ति के पास से अधिष्ठायक प्रतिमा को हटाकर वाहर विराजमान करने से देवी प्रकोप हुआ और श्रीजिनवर्द्धनसूरि के प्रति लोगो की श्रद्धा मे भेद हो गया। इस मत-भेद मे नवीन आचार्य स्थापन करना अनिवार्य हो गया और श्रीजिनभद्रसूरि जी को आचार्य पद देकर श्रीजिनराज सूरि के पद पर विराजमान किया गया। श्रीजिनवर्द्धनसूरिजी की शाखा पिप्पलक-शाखा कहलाने लगी। इस गच्छ-भेद मे श्री कीर्तिरत्नसूरिजी किस पक्ष मे रहे, यह एक समस्या उपस्थित हो गई। अन्त में जिस पक्ष का भावी उदय दिखाई दे, उधर ही रहना निश्चय किया गया, और आपने अपने ध्यान वल से श्री जिनभद्रसूरिजी का उदय ज्ञात कर उनके आमन्त्रण मे उन्हीकी आज्ञा मे रहना स्वीकार किया, क्योकि

देवता ने आपको श्रीजिनवर्द्धन सूरिजी की आयु ११ वर्ष ही शेष होने का सकेत कर दिया था। आप चार चातुर्मास महेवा मे करने के पश्चात् श्री जिन भद्रसूरि के पास गए और स० १४८० मे वैशाख सुदि १० के दिन सूरिजी ने कीर्तिराज गणि को उपाध्याय पद से विभूषित किया।

उपाध्याय पदासीन होकर आपने वडी भारी शासन सेवा की। नेमिनाथ महाकाव्य भी इसी अरसे मे निर्माण किया था और भी कई रचनाए की होगी, जिनमे कतिपय स्तवन आदि कृतियाँ उपलब्ध हैं। उनके वरद हस्त से अनेक सङ्घपति वने, सङ्घ निकाले। अनेक भव्य जीवो को धर्म का प्रतिवोध दिया और नये श्रावक वनाये। उनके भ्राता शाह लक्खा और केल्हा ने महेवा से जैसलमेर आकर गच्छनायक श्रीजिनभद्रसूरि जी को आमन्त्रित कर वडे भारी महोत्सव करने मे प्रचुर द्रव्य व्यय किया। सूरिजी के कर-कमलो से कीर्तिराजोपाध्याय को आचार्य-पदारूढ करवाया। इनका' श्री कीर्तिरत्नसूरि नाम रखा गया। इन भ्राताओ ने स० १५१४ मे शखेश्वर, गिरनार, गौडी पार्श्वनाथ, आवू और शत्रुञ्जयादि तीर्थो की यात्रा आचार्यश्री के साथ की एव सारे सघ मे सर्वत्र लाहण की एव आचार्यश्री का चातुर्मास वडे ठाठ से कराया।

श्री कीर्तिरत्नसूरि जी के ५१ शिष्य थे। श्रीलावण्यशीलोपाध्याय (मेठिया गोत्रीय) एव हर्षविशाल, वा० शातिरत्नगणि, वा० क्षान्तिरत्न गणि वा० धर्मधीरगणि आदि मुख्य शिष्य थे। श्री क्षान्तिरत्न गणि आगे चलकर आपके पट्टधर श्री गुणरत्नसूरि हुए। आचार्य प्रवर श्री जिनभद्र सूरि के स्वर्गवासी होने के अनन्तर श्री कीर्तिरत्नसूरिजी ने उनके पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि जी को सूरिमन्त्र देकर गच्छनायक पदारूढ किया।

स० १५२५ में आपने ज्ञान-वल से अपना आयु-शेष २५ दिन पूर्व ही जान लिया और १५ दिन के उपवास की सलेखना करके सोलहवें दिन सङ्घ के समक्ष अनशन आराधना पूर्वक समस्त सङ्घ व साधु-साध्वियो से क्षमत-क्षामणा करते हुए मिती वैशाख वदि ५ के दिन स्वर्गवासी हुए। जिस वीरम-पुर मे आपका जन्म हुआ था, उसी नगरी मे आपका स्वर्गवास भी हुआ।

मिती वैशाख वदि ६ के दिन आपके स्तूप और चरणो की प्रतिष्ठा श्री जिनभद्र सूरि जी के पट्टधर श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने करवाई।

जिन दिन आचार्य श्री कीर्तिरत्नसूरिजी का स्वर्गवास हुआ था उस दिन अपने आप उनके पुण्य प्रभाव से जिनालय मे दीपक प्रदीप्त हो गए।

खरतर गच्छ मे सुप्रसिद्ध महान् प्रभावक दादा गुरुदेवो की भांति आपका भी चमत्कारिक प्रभाव विस्तार हुआ और स्थान स्थान पर स्तूप-चरण एव प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा हुई। वीरमपुर-नाकोडा पार्श्वनाथ जिनालय मे आपकी प्रतिमा विराजमान है जिसका चित्र इसी पुस्तक मे प्रकाशित है और उसका अभिलेख भी सलग्न है। आपके स्तूप की विस्तृत प्रशस्ति भी प्राप्त हुई हैं जो इस प्रकार है—

"।। श्री वर्द्धमान देवस्य शासनाजयताच्चिरं।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते वहु सर्वा नरोत्तमा। । १ ।।
किं कल्पद्रु रय व्यधायि विधिना किं वादधीर्वि शुचिः
किं वा कर्ण नरेश्वर. पुन रसौ भूमण्डले वा चरत्
यं दृष्टेति वितर्कयन्ति कवयो दान ददान घन
श्री वीदाधिप भूपति सजयत्ति श्री भोजराजागज ।।१।।
प्रताप तपनाक्रान्ता श्री वीदा पृथिवी पते।
घूका इवाराय सर्वे सेवन्ते गिरि कन्दरा. ।।२।। तथा हि—

श्री ऊकेश वशे श्रीशखवाल शाखाया सा। कोचर सन्ताने सा० रतना भार्या मोहण देवी पुत्रौ० सा० आपमल्ल सा० देपाभिधानौ धनिनौ बभूवतु सा० आपमल्ल पुत्रा सा० पेथा, सा० भीमा, सा० जेठाख्या अभवन् सा० दपा भार्या देवलदेवी पुत्रा सा० लक्खा, सा० भादा, सा० केल्हा, सा० देल्हाभिधा धनवन्त तेपु च सा० देल्हाक श्रीमत्खरतर गच्छे श्री जिनवर्द्धनसूरि करे स०। १४६३ आषाढाद्य ११ दिने दीक्षा लात्वा, स० १४७०वर्षे श्री कीर्त्तिराज गणि वाचनाचार्य भूत्वा, सवत् १४८० वर्षे वैशाख सुदि १० दिने श्री जिनभद्र-सूरि करे उपाध्याय पद प्राप्य, स० १४९७ माघ सित दशम्यां श्री जैसलमेरौ

श्रीजिनभद्रसूरि हस्ते स्व भ्रातृ सा । लक्खा, सा । केल्हा कारितातिविस्तारोत्सवे श्री भावप्रभसूरि पट्टे श्रीकीर्तिरत्नाचार्या बभूवतु ते चोत्तर देशादिषु प्रतिबोधितानक नवीन श्रावक सघा गीतार्था कृत श्री लावण्यशीलोपाध्याय, वा । शान्तिरत्न गणि, वा । क्षान्तिरत्न गणि, वा । धर्मवीर गणि अनेक शिष्य वर्गा तत आत्मायुरन्त विज्ञाय पञ्चदशोपवासै प्रथम सलेखन कृत्वा षोडशोपवासि सदा साहसिकतयाहदादीन् साक्षी-कृत्य, चतुर्विध, सघ समक्ष स्वमुखेनानशन गृहीत्वा, पालयित्वा दश दिनान् एव पचविंशति दिनात् शुभ ध्यान तोति वाह्य स० १५२५ वैशाख वदि ५ पचम्यां श्री वीरमपुरे स्वर्ग प्रसूता । तस्मिन् दिने तत्पुण्यानुभावत श्री जिनविहारे स्वय प्रादाव्य दीपा स्पष्ट बभूवतुरिति ततश्च । तस्मिन् श्री राठौड वश चूडामणि श्री वीदा नाम नरेश्वर स्वय स्थापित श्री वीरमपुरे न्याय राज्य प्रतिपालयति सति तदादेशात् सा । केल्हा भार्या केल्हणदेवी पुत्र सा । धन्ना, स० मना, स० माला, स० गोरा । सा । डू गर, सा । गेपराज, सुश्रावकै. सा । भादा पुत्र सा भोजा, सा० लक्खा, सा० गणदत्त, तत्पुत्र सा० माडण सा । जगा प्रमुख परिवार सश्री कै स० । १५१४ वहु सघ मिलन श्री शत्रुञ्जय श्री गिरनार तीर्थातिविस्तारतीर्थयात्राकरणप्राप्तमघपतिपदतिलकै श्री गिरनार देव्य श्री वीरमपुरे श्री शान्तिनाथ महाप्रसाद विधापन सफलीक्रियमाण लक्ष्मी कै सवत् १५२५ का वैशाख वदि५ दिने श्री कीर्त्तिरत्नाचार्याणा स्तूप स्थापित कारितश्च पादुका सहितस्तै ,स्व प्रतिष्ठितस्य श्री खरतर गच्छे श्रीजिनभद्रसूरि पट्ट श्री जिनचन्द्रसूरिभि शुभ भवतु शिष्य कल्याणचन्द्र सेवित प्रशस्ति लेखन हर्षविशालो प्रशस्ति चिरनदतु श्रीरस्तु ।। [पत्र १

श्री कीर्ति रत्नसूरि जी की प्रतिमा तीर्थनायक श्री नाकोडा पार्श्वनाथ जिनालय के गर्भगृह के आगे आले मे विराजमान हैं जिस पर यह लेख है—

"श्री कीर्तिरत्नसूरि गुरुभ्यो नम स वत् १५३६ वर्षे सा० जेठा पुत्री रोहिणी प्रणमति

नाकोडा तीर्थ के खरतर गच्छीय सा० माला के बनवाए हुए शान्तिनाथ जिनालय मे स्थित चरण पादुका पर निम्नोक्त लेख हैं—

संवत् १५२५ वर्षे वैशाख वदि ५ दिने वीरमपुरे श्री खरतर गच्छे श्री कीर्त्तिरत्नसूरीश्वराणा स्वर्ग । तत्पादुके श्री शखवालेचा गोत्रे मा० काजल पुत्र सा०तिलोकसिंह खेतसिंह जिनदास गउडीदास-कुशलारयेन सरापित । शाके १४३३ प्रवर्त्तमाने (?) स० १६३१ वर्षे मगसर सुदि २ दिने प्रतिष्ठित ।

खरतर गच्छ दादावाडी मे स० २००० में श्री जयसागरसूरिजी के सानिध्य मे श्री जिनदत्तसूरि, मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि और श्री कीर्ति रत्नसूरिजी की पादुकाएँ यतिवर्य नेमिचन्द्र जी ने स्थापित की। इत पूर्व यहाँ पर श्री जिन दत्त सूरि जी और श्री जिनकुशलसूरिजी की पादुकाएँ स्थापित थी।

उपाध्याय ललितकीर्त्तिकृत गुरु स्तुति से विदित होता है कि आपकी चरणपादुकाएँ व स्तूप आबू, जोधपुर, राजनगर आदि स्थलो मे भी स्थापित थे। यत

'पगला अरबुद गिर भला, योधपुरै जयकार
राजनगर राजे सदा, धुम सकल सुखकार ॥८॥'

अभयविलास कृत कीर्तिरत्न सूरि गीत मे गडालय-नाल मे स० १८७९ मिती वैशाख वदि १० के दिन आपके प्रासाद निर्माण होने का इस प्रकार उल्लेख है—

कीर्त्तिरतनसूरि गुरुराय, महिर करो ज्यु सपति थाय।
अठारे सै गुण्यासीये वास, वदि वैशाख दशमी परगास ॥१३॥
रच्यो प्रासाद गडालय माहि, दोय थान सोहे दोनु वाह।
सुगुरु चरण थाप्या घणे प्रेम, सुजस उपयो कातिरतन एम ॥१४॥

वीकानेर जैन लेख सग्रह लेखाङ्क २२९९ मे इसके महत्वपूर्ण अभिलेख की नकल इस प्रकार प्रकाशित है।

॥स०। १४६३ मध्ये शखवाल गोत्रीय डेल्ह कस्य दीपाख्येन पित्रा सम्बन्ध कृत तत विवाहार्थ दूलहो गत, तत्र राडद्रह नगर पार्श्वस्थायाम्यत्या

एको निज मेवक केनचिद् कारणेन मृतो दृष्ट , तत् स्वरूप दृष्ट्वा तस्य चित्ते वैराग्य समुत्पन्ना सर्वममारस्वरूपमनित्य ज्ञात्वा म । श्रीजिनवर्द्धनसूरि पार्श्वे चारित्र ललौ, कीर्त्तिराज नाम प्रदत, तत शास्त्र विशारदो जात महत्तप कृत्वा भव्य जीवान् प्रति वोधया मास तत म । श्री जिन भद्र सूरय स्त पदस्थ योग्य ज्ञात्वा दुग स । १४९७ मि । मा । सु० १० ति । सूरि पदवी च दत्वा श्री कीतिरत्नसूरि नामाना चक्रुस्तेभ्य शाखेपा निर्गता ततो महेवा नगरे । सं १५२५ मि । वं । व ५ ति । २५ दिन यावदनशन प्रपाल्य स्वर्गे गत । तेषा पादुके स । १८७९ मि । आ । व १० ज । यु । भ० श्री जिनहर्षसूरिभि प्रनिष्ठित तदन्वये महो-श्रीमाणिक्यमूर्त्ति गणिस्तच्छिष्य प० भावहर्षगणि तच्छिष्य उ । श्री अमरविमल गणिस्त । उ । श्री अमृत-सुन्दर गणिस्त । वा महिमहेम स्त । प०कान्तिरत्न गणिना कारिते च ।

खरतर गच्छ मे आपकी शिष्य परम्परा कीतिरत्नसूरि शाखा नाम से प्रसिद्ध हुई, जिममे साधु एव यति परम्परा मे पचासो विद्वान हुए हैं, जिन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की, प्रतिष्ठाए कराई । बीसवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् जैनाचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी भी आप ही की परम्परा मे हुए जिन्होने कई ग्रन्थ एव स्तवनादि रचे । उनके पचासो शिष्यशिष्याओ ने शासन की बडी सेवाएं की । श्री जयसागरसूरि, उ. सुखसागर जी मुनि कान्तिसागरजी नामाङ्कित विद्वान थे । अब आपकी परम्परा मे केवल वयोवृद्ध मुनि मङ्गल-सागर जी एव कुछ साध्वियां विद्यमान है ।

श्री कीर्तिरत्न सूरि शखवाल थे, इनके कुटुम्ब वाले बडे धनाढ्य और नामाङ्कित व्यक्ति हुए हैं जिन्होने नाकोडा, जेसलमेर, शङ्खवाली, जोधपुर और बीकानेर आदि स्थानो में विशाल जिनालयो का निर्माण कराया । सघ निकाले, दानशालाएं खोली । कितने ही स्वर्णाक्षरी कल्पसूत्र आदि शास्त्र लिखवाए जिनकी प्रशस्तियो तथा अन्यान्य साधनो में विस्तृत इतिहास छिपा पड़ा है जिन पर प्रकाश डालने के लिए शोध आवश्यक है ।

रचनाएँ —

आचार्य कीर्तिरत्नसूरिजी बहुत अच्छे विद्वान् थे, इनकी सबसे पहली रचना जैसलमेर के पार्श्वनाथ मन्दिर की प्रशस्ति है, जो २७ श्लोको मे रची

गयी है। उसमे अनेकों महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य पाये जाते है। 'लक्ष्मण विहार' नामक इस जिनालय का निर्माण कीर्तिरत्नसूरिजी के दीक्षा गुरु श्री जिनवधनसूरिजी के उपदेश से स० १४७३ मे हुआ था। यह प्रशस्ति चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर, जो जैसलमेर का प्राचीन और प्रधान मन्दिर है, इसके दक्षिण द्वार के बांयी तरफ दीवार पर काले पत्थर पर खुदी हुई है। २२ पक्तियो मे यह सत्ताईस श्लोको वाली प्रशस्ति बड़ी सुन्दर व महत्व की है। प्रशस्ति के शिलालेख की लम्बाई दो फुट साढे छः इञ्च और चौडाई एक फुट साढ़े तीन इञ्च है। इसके अक्षर बडे सुन्दर और आधा इञ्च से भी कुछ बडे खुदे हुए है। यह प्रशस्ति और उसका ब्लॉक स्वर्गीय पूर्णचन्द जी नाहर के जैन-लेख-सग्रह के तीसरे खण्ड के प्रारम्भ मे ही छपा हुआ है। इस प्रशस्ति का सशोधन उस समय के प्रसिद्ध विद्वान वा० जयसागर गणि ने किया था, और धन्ना नामक सूत्रधार ने इसे उत्कीर्ण किया था। प्रशस्ति का अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

"प्रशस्ति विहिता चेयं कीर्तिराजेन साधुना।
धन्नाकेन समुत्कीर्ण्णा, सूत्रधारेण सा मुदा ॥२७॥

साधु कीर्तिराज, जो कीर्तिरत्नसूरि जी का दीक्षा नाम था, वही नाम इस प्रशस्ति मे उल्लिखित है। स० १४७० में इनकी विद्वता से प्रभावित होकर आचार्य श्री जिनवर्धनसूरि जी ने इन्हे वाचक पद से विभूपित कर दिया था पर स० १४७३ की प्रशस्ति मे वाचक पद नही लिखा है। तब से लेकर आप ५५ वर्ष तक साहित्य रचना करते रहे। पर आपकी अन्य सब रचनाओ मे रचना समय का उल्लेख नही है,इसलिए उनका क्रमिक रचनाकाल नही बतलाया जा सकता, रचनाकाल के उल्लेख वाली दूसरी रचना अजितनाथ जपमाला चित्र स्तोत्र स० १४८६ मे रचित ३७ श्लोको का काव्य है। इसकी उसी सम्वत् की लिखी हुयी एक पत्र की सुन्दर प्रति हमारे सग्रह मे है। उसकी नकल यहाँ प्रकाशित की जा रही है। यह एक चित्र-काव्य है। अच्छा होता इसे चित्र काव्य (जपमाला) के रूप में प्रकाशित किया जाता। इस स्तोत्र की रचना से

छ वर्ष पहले सुप्रसिद्ध आचार्य जिनभद्रसूरिजी ने आपको उपाध्याय पद से अलकृत कर दिया था पर आपने इस स्तोत्र के ३६ वें पद्य में 'कीर्तिराज साधु' ही नाम दिया है। 'उपाध्याय' पद का उल्लेख नही किया, यह आपकी निर-भिमानता व निस्पृहता सूचक है। इसके अन्तिम पद्य मे 'इन्द्रनगरी' के अजित जिन कल्याण करें, ऐसा उल्लेख है, यह 'इन्द्रनगरी' कौनसी थी ? प्रमाणाभाव से निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

स० १४६० मे आप योगनीपुर-दिल्ली मे थे तब आपने यजुर्वेद की प्रति प्राप्त की थी, वह १५६ पत्रो की प्रति अभी स्वर्गीय आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी के सग्रह मे है। अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार हैं—सम्वत् १४६० वर्षे श्री योगिनिपुरे श्री कीर्तिराजोपाध्यायै ॥ जु (य) जुर्वेद पुस्तक प्राप्त ·········· ।

इस प्रति मे आप केवल जैन शास्त्रो के ही विद्वान नही थे, पर वेदो के भी अध्येयता थे, सिद्ध होता है। युजुर्वेद की यह ५४१ वर्ष पहले की लिखी हुयी प्रति अवश्य ही महत्वपूर्ण है। आपके और आपके शिष्यो के लिखवाई हुयी अनेको हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे देखने मे आयी हैं, जिनसे आप केवल साहित्यकार ही नही, पर साहित्य के सग्रह एवम् सरक्षण मे भी आपका वहुत ही महत्वपूर्ण योग रहा सिद्ध होता है।

प्राकृत सस्कृत और तत्कालीन प्राचीन राजस्थानी लोकभाषा मे आपकी कई रचनाएँ प्राप्त हैं, जिनमे से नेमिनाथ महाकाव्य स० १४७५ की रचना है और रोहिणी स्तवन् सम्वत् १४६७ की। अजित स्तुति को छोडकर अन्य रचनाओ मे रचना काल नही दिया गया।

अपने साहित्यिक शोध के प्रारम्भ काल मे ही हमे आप ही के शि० शिवकुजर की एक महत्वपूर्ण स्वाध्याय सग्रह पुस्तिका प्राप्त हुयी थी, जिसमे आपके रचित निम्नोक्त रचनाएँ लिखी हुयी हैं—

यह प्रति स० १४९३ की लिखी हुयी है, अत ये सभी रचनाएँ इससे पहले की ही रचित सिद्ध होती हैं।

(१) महावीर विवाहलो गाथा ३२ आदि—सिद्धि रमणी० ।

(२) अजितनाथ जयमाल चित्र स्तोत्र श्लोक ३७ स० १४८६, इन्द्रपुरी (परिशिष्ट मे प्रकाशित) ।

(३) जैसलमेर २४ जिन स्तवन गाथा २५ आदि—ऊजल केवल० ।

(४) पुजोर वीनति गाथा १६ (महा हरम०) ।

(५) नेमिनाथ वीनति गाथा २० (तिहुअण जण०) ।

(६) तलवाडा शान्ति स्तवन गाथा १५ (श्री मरुदेश मझारि०) ।

(७) रोहिणि स्तवन गाथा ४ (जय रोहिणी वल्लह) स० १४६७ ।

(८) नेमिनाथ ज्ञानपचमी स्त० गाथा ११ (वदामिनेमि नाह०) (अन्य प्रति मे गा० १३ परिशिष्ट मे प्र० ।

(१०) शान्तिनाथ स्तुति गाथा ४ (वरसोला मलागुन्दउडा खजूर) इस ११ गिरनार चैत्यपरियाही १२ पार्श्व एातदत प्रयश्ति पर साधुसुन्दर रचित टीका भी हसविजयजी ज्ञानभण्डार मे प्राप्त है ।

इनके अतिरिक्त हमारे सग्रह मे "अन्यार्था स्तुति एवम्" १४ 'चत्तारि अट्ठ दश' गाथा के छ अर्थो वाली सात गाथाएँ भी लिखी हुयी मिली हैं । इनकी दीर्घायु को देखते हुए और भी बहुत सी रचनाएँ मिलनी चाहिएँ ।

आपके लिखवाई हुयी स्वर्णाक्षरी कल्पसूत्र की एक महत्वपूर्ण प्रति के प्रशस्ति पत्र हमारे सग्रह मे है । इसीतरह एक सचित्र कल्पसूत्र की २६ श्लोको की प्रशस्ति भी हमारे सग्रह मे है, इन सब मे आपके वशजो का काफी विवरण पाया जाता है । अर्थात् आपके वश वाले बहुत धनाढ्य व्यापारी रहे है, जिन्होने जैनमन्दिर, मूर्तियाँ, पादुकाएँ, ग्रन्थलेखन आदि धार्मिक, कार्यो मे प्रचुर द्रव्य व्यय किया था ।

अनेक देशो और ग्राम नगरो मे आपने विहार करके धर्म प्रचार और साहित्य साधना की थी । शत्रुञ्जय गिरनार आदि अनेक तीर्थों की सघ सहित यात्रा की थी । वीरमपुर, जैसलमेर, पुजोर, तलवाडा, दिल्ली आदि अनेक स्थानो मे आपने चौमासे किये थे, जिनका उल्लेख आपकी कृतियो मे और समकालीन अन्य रचनाओ में प्राप्त हैं । सक्षेप मे आप पन्द्रहवी शती के उत्तरार्ध

और सोलहवी के प्रारम्भ के एक महान प्रभावशाली धर्माचार्य और विशिष्ट साहित्यकार थे।

आपके पट्ट पर श्री क्षान्तिरत्न गणि को गच्छनायक श्री जिनचन्द्र सूरि जी ने वीरमपुर मे स. १५३५ मिती आषाढ बदि ९ के दिन स्थापित कर श्रीगुणरत्नसूरि नाम से प्रसिद्ध किया जिसका वर्णन गुणरत्नसूरि वीवाहला मे इस प्रकार पाया जाता है—

क्रमिक्रमि वीरमपुर वरे आविया,भाविया मोरु जिम नाचताए ।।३०।।
सकल श्री सघिस्यु जिनचन्द्रसूरि, वयसि एकान्ति विमासिउ ए।
आचारिज पदि क्षातिरत्न गणि, थापिसिउ एह प्रकाशिउ ए ।३१।
तयणु तेडाविज्यो सीस महूरत, सुधउ लगन गणाविउ ए
पनर पइ त्रीसा साढ वदि नवमी मङ्गलवार जणावियउ ए ।।३२।।
वस्तु छन्द—तत्थ वीरम, तत्थ वीरमपुर मज्जारि ।
सयल सघ आणदिउ उछरगि तिह करइ उच्छव
सघाहिव केल्हा तणय धन्नराज मनराज वधव
दीवाणे दीपक भलउ मणिमत्थ भाल मयक
उच्छव काज उमाहियउ मरुमण्डलि अकलक ।।३३।।

गुण रत्न सूरि की एक रचना 'विचार अलावा', की नौ पत्रो की प्रति स० १६१६ की लिखी हुई, जैसलमेर के वडे उपाश्रय मे हमने देखी थी।

आ कीर्तिरत्नसूरिजी के अन्य शिष्य कल्याणचन्द्र रचित कीर्तिराज सूरि विवाहलउ नामक ५४ पद्यो का एक ऐतिहासिक काव्य हमे प्राप्त हुआ है, उसे भी यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। सम्वत् १५२५ मे कीर्तिरत्नसूरिजी का स्वर्गवास हुआ, उसके कुछ समय वाद ही यह काव्य रचा गया अत सूरि जी सम्बन्धी यह एक प्रामाणिक रचना है। कल्याण चन्द्र रचित कीर्तिरत्नसूरि चउपई हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह' मे प्रकाशित हो चुकी है। इनकी एक महत्वपूर्ण रचना 'मान-मनोहर' की सम्वत् १५१२ की लिखी हुयी प्रति पाटडी भण्डार में होने का उल्लेख 'जिन रत्न कोष' के पृष्ठ ३०८ मे प्रकाशित है।

गत ५०० वर्षो मे कीर्तिरत्नसूरिजी की शिष्य परम्परा मे सैकडो कवि और विद्वान हो चुके हैं, उन सबका परिचय देना एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है, ४५ वर्ष पूर्व श्री जिन कृपाचन्द्रसूरि ज्ञानभण्डार बीकानेर मे हमने एक बडा गुटका देखा था, जिसमे कीर्तिरत्नसूरिजी की परम्परा का विस्तृत विवरण था।

कीर्तिरत्नसूरि और और उनकी परम्परा के सम्बन्ध मे हमने बहुत-सी सामग्री इकट्ठी की थी, पर उसे व्यवस्थित रूप देने और प्रकाशित करने का सुयोग अभी तक नही मिला। ऐसे महान् विद्वान् जैनाचार्य के नेमिनाथ महाकाव्य को सानुवाद प्रकाशित करते हुए हम धन्यता का अनुभव कर रहे हैं।

परिशिष्ट (1) कीर्तिरत्नसूरिजी की रचनाएँ—

श्रीजिनकीर्त्तिरत्नसूरि प्रणीतम्

(१) अजितनाथ-जपमाला-चित्र-स्तोत्रम्

जिनेन्द्रमानन्दमय जितैन, पक्ष प्रवीर दुरितापहारम्।
नुधामि देव प्रकटानुभाव, नव्य पवित्र गुणपीनपात्रम् ॥१॥
निष्काभभास शिवसन्निवास, गजध्वज त्वा मिजिताङ्ग नुत्वा।
नि श्रेयसं रक्तिरुषा निवार, जन. सदा नम्य वभाज को न ॥२॥
सदा विडौजाश्चरणौ सतेजा, यस्याऽनराते शुभकायकान्ते।
ननाम दूर बहुमानसार, स्तुत्यः सभृत्यस्य ममास्तु नित्यम् ॥३॥
सम्यक्प्रसादाद्, भवत.सभन्दाद्-स्त्रिलोकराज' सुचरित्रिणोज।
गता अनन्ता मति सङ्गति ता, विधेहि शम्भो मम सविदम्भो. ॥४॥
विनौति य कश्चन ते विशोक, लसच्छ्रिय कान्त विशालरोकाम्।
ययौ पर शर्ममय यतीश - पद सयुक्ति क्षतपापक्ति ॥५॥
भदन्त देव क्षणु लोभभाव, तक्षेश कोप मम कृन्त पापम्।
रक्षा प्रभो मे कुरु धीर कामे - श्वराधिपार नय विश्वतार ॥६॥

सत्वांश्च रागाद्यरित सरोगान्, यत्त्रायसेऽत्यर्थममाय नित्यम् ।
प्रभो कृपामातनुखे प्रभेमां, दया मया त्वैभव मन्दरा वै ॥७॥
तपः प्रभा नुन्न निशात भानुं, यमाभाढ्यमविप्रलम्भा. ।
सुरा जगू रावकला सु धीरा., सुपश्यताराव्यमिमुं सुवीरा. ॥८॥
विभो ह्यशोक गुपिल विशोक, समुल्लसन्त तव ससदोन्त ।
ददर्श यो यादनिधे दयाया धन्य. स धर्मस्थिरबोध शर्म ॥९॥
प्रधानदेव प्रकटप्रभाव, दमिन्नितान्त मकरन्दकान्तम् ।
पर्षद्यपार कुसुमोपहार, किरत्यलोल तव नाकिजालम् ॥१०॥
दिव्या गिर तत्वमयी दिवीनः, प्रपीय नामाऽजित दीप्रकामान् ।
ददर्श ते लोकचयो दयालो, कल्याणकान्ते विकलङ्कनीते ॥११॥
स्मरन्ति सत्त्वा जिन विस्मयात्वा, धन्या अवन्या ध्रुव बोधमान्याः ।
निरस्तमार जडता निवार, तमो पहारं शिव सातकारम् ॥१२॥
सन्न द्विषज्जात नृणा समाजा, यताय केते परिपाय यन्ते ।
नव्य वच पङ्कवितान ताप, रक्षो नताऽन्मदयतीर वानम् ॥१३॥
मदवार रजोभारो - रुसमीररयोपमम् ।
विनौम्यर रसात्त्वां रे जिनेश्वर रमाकरम् ॥१४॥

विना त्वया नाथ न कोविदाना, शर्मैपिणामगतम. शशाम ।
विलीनमम्भोदतति विना भो., परा न चेदं तप तापवृन्दम् ॥१५॥
शक्रार्क सोमस्तुत वंशनाम, वन्द्य प्रशान्त स्वगुणावदात ।
जगत्प्रधान प्रविराजमान, मच्छिद्य वद्यं जिनहृमसद्यः ॥१६॥
स्वसेवक कर्मदनि स्वमेक, रक्षामुमा चन्द्रमनारतं च ।
यश. प्रकाशस्तव नायकेश, प्रवर्तता दक्ष कुरु प्रसादम् ॥१७॥

मरुत्समूहा धुतकाममोहा, नगे समोद तव सन्नसादम् ।
कल्याणकार स्नपन कर्पूरं, शश्वद् व्यधुस्तद् गुण कोशशस्तम् ॥१८॥
परास्तमार भवतापहारं, मदद्रुमेभ मतकामकुम्भम् ।
वन्द्य भवन्तं हृदय वसन्त, प्राप्नोति शम्भो सुकृतीप्रभो भोः ॥१९॥

सुघ्यायता नाम तवासुरेना - मरै स्मृत मर्दितवाम काम ।
त्रस्यन्त्यघाजालममित्रपुञ्जा, पयस्तृषो वाऽपिबता परा वा ॥२०॥
रम्यौ क्रमौ चर्चति तारकौ च, यस्तेऽम्य भीति. क्षयमायतीति ।
यशोरमातीर्थंकरे यमेती - श्वरप्रथा एक्षुकविश्वसारा ॥२१॥
विलोकितो लोकगुरो त्रिशालो - ऽकर्माभवान्याद्यपशोकमाय ।
तिग्माधिपूर. स्म तदेति दूर, भक्तादित सादितलोभदासात् ॥२२॥
तमोरिडिम्बा प्रणिपाततो वा, नश्यन्ति नून भवतो नयेन ।
सर्पा यथा रोगरज समीरो - रुताक्ष्यंतो हन्त गुणोरुगेह ॥२३॥
प्रसीद मे सादय दोषभामा - दर्गान्विता सतमम दरास ।
गतो ह्यसात विजयाग जात, हन्ताऽमुना तन्नटितोहमन्तः ॥२४॥
भद्राम्बुज व्यक्ति खगाभभव्य - व्रजा सभाजास्तव तीव्रतेजा ।
सद्दाभिराम स्तवनं सकाम, तरन्ति त तत्कुलवन्त एतत् ॥२५॥
सभावनी नाथ विभासमाना, तवेश या नन्दथु माततान ।
हन्त प्रशान्तागिसमूह कान्त, ता सस्तुवे कर्तितभीतशङ्क ॥२३॥
भदन्त हे वन्द्य विदम्भ देव तक्षाधिपुञ्ज विजयातनूज ।
नयावदाता प्रतिभा नवा ता, हिता नितान्त मम देहि तात ॥२७॥
तव प्रभो मानव एत धामा रसात्स्मृरन्मगलसारनाम ।
दक्षोभवे देव पयोदनादे देवाजितो वन्द्य बतोग्रवादे ॥२८॥
जिन पर नुव नत्र जि सग त्वा निरञ्जन ।
संजायते नर स्नुत्य सदा त्रिजगता विभो ॥२९॥
विकल का यश. पंक्ति भवत परमेश्वर ।
संगायन्त्य प्रमाद वै तनु प्रभासुरा सुरा ॥३०॥
विकसन्तं दयाधर्मं प्रवन्दन्त पर किल ।
दितप्रमाद लोकते म्म त्वा धन्या निरन्तरम् ॥३१॥
सजायते न परमं विना शम विभो पदम् ।
शमवन्त जनं - सद्य स्वक रचय शप्रद ॥३२॥

महानन्दकर शस्तपरम भवतः प्रभो।
सुनाम मन्त्रजापं वा रचयन्ति यतीश्वरः ॥३३॥
विलोकयन्ति रभसात् तवानन सरोरुहम्।
प्रसाद संगतं हन्त भव्यव्रजा. समन्ततः ॥३४॥
सनातन हतातङ्कं भवन्त जनता हितम्।
जितमार मद देव वन्दे दमरमाततम् ॥३५॥
श्री कीर्त्तिराजाभिध साधुनाऽधुना
सद्दृव्यया भो जपमालयाऽनया।
गजाङ्कदेव जपताहता जना,
वशीभवेद्व शिवकामिनी यथा ॥३६॥
वर्षे रसाष्टाम्बुधिसोमरूपे (१४८६)
चित्राक्षमाला स्तवन प्रणूतः।
ऐन्द्रया नगर्यामजितो जिनेन्द्रः,
करोतु कल्याण परम्परा व ॥३६॥

❀ इति श्री अजितनाथ जपमाला चित्रस्तोत्रम्। ❀

सव० १४८६ वर्षे

(अभय जैन ग्रथालय वीकानेर सं० ६६२७ पत्र १.)

वि० वि० जैनस्तोत्र सदोह प्रथम भाग मे प्रकाशित सूची के अनुसार जैनस्तोत्र सम्मुचय मे कीर्त्ति रत्नसूरि रचित्र गिरनार चैत्य परिपाटी स्तवन और करहेटक पार्श्व जिन स्तवन प्रकाशित हो चुके है।

———

कीर्त्तिराजोपाध्याय कृत

(२) श्री ज्ञानपंचमी गर्भित नेमिनाथ स्तवन

वदामि नेमिनाह, पचम गइ कुमरि विहिय वीवाह।
भजिय मयणुच्छाहं, अङ्गीकय सील सन्नाह ॥१॥

॥ भास ॥

अत्थिय काया पच कहिय जिण पच पमाया।
पच नाण पचेव दाण पणवीस कसाया॥
पच विषय पचेव जाइ, इन्द्री पचेव।
सूमति पच आयार पच तह वय पचेव ॥२॥
पच भेद सज्झाय पच चारित्त परूविय।
इग्यारिसि पचमि पमुक्ख तव जेण पयासिय॥
पच रूव मिच्छित्त तिमिर निन्नासण दिणयर।
नयण सलूणउ देव नेमि सो थुणियइ सुहयर ॥३॥

॥ वस्तु ॥

पच वन्नहि पच वन्नहि सुरहि कुसुमेहि।
मणि माणिक मुत्तियहि पञ्च पञ्च वत्थूणि उत्तम।
भावइ पञ्चहि पुत्थियहि पञ्च वरिस काऊण पञ्चमि॥
जे आराहइ पञ्च विह नाण ठाण लोयाण।
नेमिजिणेसर भुवण गुरु द्यउ वर केवलनाण ॥४॥

जिण मूल उमूलिय पञ्च वाण, पञ्चम गइ पामिय जेणि ठाण।
सावण सिय पञ्चमि जम्म जासु, हू भावइ वदु चरण तासु ॥५॥
जिण चवदह पुव्व इग्यार अङ्ग, उपदेसइ दसिय मुक्ख मग्ग।
परमिट्ठ पञ्च मझय पहाण, त नमह नेमि जिण होइ नाण ॥६॥

जो केसव पञ्चहि पइवेहि, पञ्चङ्ग पणमिय जादवेहिं।
सिय पञ्चम नाण आराहगाण, सो हरउ दुरिय जिण सेवगाण ॥७॥

॥ वस्तु ॥

पढम नाणहि पढम नाणहि भेय अडवीस।
चउदभेय सुयस्स तह अवहि नाण छब्भेय निम्मल।
मणपज्जव नाण पुण दुन्नि भेय इग भेय केवल।
एव पञ्च पयार मिह जेण परूविय नाण।
सो नदउ सिरि नेमि जिण मङ्गलमय अभिहाण ॥८॥

॥ भास ॥

पञ्चासव तक्कर हरण, दिणयर जिम दीपति।
पइ दिट्ठउ सिरि नेमि जिण, हियय कमल विहसत ॥९॥
तुट्टइ पञ्च पयार मह, अन्तराय अन्धियार।
पञ्चाणुत्तर भाव सवि, पयड़िय हुइ जगसार ॥१०॥
भवपुरि वसता सामि हूय, राग दोस मिलिएहि।
रयणदिवस सतावियउ ए, पञ्चिदिय चोरेहिं ॥११॥
सिद्धि नयरि दिउ वास हिव, करि पसाउ जिणराउ।
पञ्चम गइ कामिणि रमण, वर पञ्चाणण ताय ॥१२॥

(कलश)

सिवादेवि नदण पाव खडण तरण तारण पच्चलो।
हय कम्म रिउ बल सबल केवल, नाण लोयण निम्मलो।
सिरि नाणपचमि दिवसि थुणिइ, नेमिनाह जिणेसरो।
चउ सिद्धि सपइ देव जपइ, कीर्त्तिराय मणोहरो ॥१३॥

। इति श्री नेमिनाथ स्तवनम् ।

अभयजैन ग्रन्थालय प्रति स० ९९३५ पत्र-१ १७ वी शताब्दी लि० प० हीरराज लिखत। १६ वी शती के गुटका रत्न मे भी है।

परिशिष्ट नं० २

आ० कीर्तिरत्नसूरि सम्बन्धी ऐ० अज्ञात रचना

(३) चत्तारि अट्ठ दस षट अर्थाः

चत्तारि जिणवीस ठाणेसु सिद्ध सग मणु पत्ता ।
अट्ठदोस मिलिया वीसे, वदामि सम्मे, ए ॥१॥
रिसहाण णाह सासय चत्तारि सासउ वन्दे ।
अट्ठ दस दोइ वीस गए दंतट्ठिए सु वन्दामि ॥२॥
चउ गुरु अट्ठ अडयाला दस दो बारस तहा सट्ठी ।
एव चउमुह जिण चेइए सु वदामि जिण नयर ॥३॥
अट्ठ दस दोइ वीसे, ठाणे आराहिउणमे सिद्धा ।
नामाइ जिण चउरो तेसिं वदामि भत्तीए ॥४॥
चत्तारि सासयउ पडिमा वदामि तिव्व ।
अट्ठ दस दोइ वीसं वट्ट वेयट्टेसु चेडसु ॥५॥
अट्ठ दस दोइ वीसे ते चउग्रणिया सवे असी सखा ।
एव जिण भवणाइ वदेह पच मेरुसु ॥६॥
सुसहर कय नव अत्था, तदुवरि सिरि कित्तिरयणसूराहिं ।
रईआ इमेत्थ अत्था, खरतर गण जलधि रयणेण ॥७॥

इतिपट अर्थ श्री कीर्तिरत्नसूरि विरचिता पत्र १ न०९६२४
अभय जैन ग्रथालय, बीकानेर ।

[४] अन्यार्थ स्तुति

वरसोला भला गूदवडा खजूर साकर ।
शाति दद्या सदाचारा नोल पादह्लिखारिका ॥१॥
अदर सा गुणाधार, लापसोभा नमीश्वर ।
अघेवर जलेबी जव रागा स्फुरेति कीर्तीय ॥२॥
सुकाचरी सु कारेला, वडी पापड काकडो ।
कौ सागरी इसी वाणी जैनी भूया सदा फल ॥३॥
कपूर लवग रस, सदा पान फरो हरे ।
तंवोल खयरसारव सोपारी सुथित क्रियात ॥४॥
इति श्री अन्यार्था स्तुति । कीर्तिरत्ना चार्याये ।



(कल्याण चन्द्र कृत)

श्री कीर्तिरत्नसूरि वीवाहलउ

भत्ति भर भरियउ हरिस सिरि वरियउ
पणमिय सतिकर सतिनाह।
सारदा सामिणी हसला गामिणी
झाणिहिं निय हिय करि सनःह ।।१।।
नाण लोयण तणउ अम्ह दातार गुरु,
अनम गुणवत सिरि मउड मणि।
तेण सिरि कित्तिरयण छरीसरे हिव
कहिसु हउ चरिम धरि मतिमणि ।।२।।
देश मरु मडल सहिज अति मुज्जल,
महिय हेलइ भासति भालं।
तिलकु जिम सोहए वहु मोह,
तिहा महेवापुरे सिरि विसाल ।।३।।
लोग धनवत गुणवत सुविलासिनी,
कामिणी गढ मढा वास सत्थ।
दीसइ जं पुर जण पुरदर पुर
भोगय भरह सिरि दंसणत्थ ।।४।।
सतिजिण वीरजिण नवण, धयवड मिसिण,
तज्जुयतो परम मोहसंतु।
साहुजिण थणिय गुण अणदिण गाजए,
राजए राउ जिणधम्म भत्तु ।।५।।
तत्थ उवएस वशे मही पयडओ,
धम्म धुरु धोर कुल सखवालं।
कणय धण रयण सतानि सुसमिद्धओ
सोहइ सायर जिम विशाल ।।६।।
अत्थि विवहारिणो बहुय गुण धारिणो,
आप मनल्लो तहय देप नाम।
राम लखमण जहा नह निब्भर तहा,
वधवा दोइ धनवत्त धाम ।।७।।

देप घरि भामिणी रूप सुर कामिणी,
रमणि गुण रयण सइच परीणा ।
सील सोहामणि सुगुण अनुरागिणी,
देवलदेवि जिण धम्म लीणा ॥ ८ ॥
तीहवर उवर सरि अवरिय हंस वरि,
सहिसमणि सूइओ सद्ध परक्खो ।
पुत्त गिरि रोहणो रयणु जिमि मेरु गुरि कप्परुक्खो ॥९॥
चवदसइ इगुणपचास ए वच्छरे १४४९
विक्कमे चेत सुदि सक्रवारे ।
अट्ठमे पुणवस चउय पाए ससि
निशि कुमर जाइओ देपनारे ॥१०॥
करिय वद्धामणउ सुयण सोहामणउ
दाण दिज्जति वाजति तूरि ।
दिवस दसि नवनव करिय पिउ उच्छवा,
नाम किय देलह आणद पूरे ॥११॥
नेह तरु कदलो वीय जिमचंदलो,
बाधए दिनदिने अहि कुमारो ।
अगणे खेलए अमिय रस रेलए,
सुयण गण नयण रूवेण सारो ॥१२॥

॥ वस्तु ॥

पुर महेवउ पुर महेवउ अघइ मरु देशि ।
उवएस वसिंहि तिलउ संखवाल कुल कमल दिणयर ।
दुई वंधव सघर तिहि, आपमल्ल देपा सहोदर ॥
देवलदे देपा घरणि, तिणि जायउ सुकुमार ।
देल्हउ नाम पतीठिउ, वाधइ रूपि अपार ॥१३॥

अह महेवइ पुरे आविउ सुन्दरो वायणारिय सिरि खेमकित्ति ।
देल्हउ वदए चित्त अभिनन्दए देइ उवएस तसु सुगुरू झत्ति ॥१४॥

कुमरु गुरू वाणिय अमिय समाणीय, निसुणिय जाणिय भव सरूव ।
चितए सजम लेसु अइ उज्जमं, करिय लघेसु भव दु.ख कूव ॥१५॥

कुमरु हिव मग्गए निय जणणि अग्गए सयम गहण आएसु मात ।
जप पत्त मुणिय इक्कवार भणिय वच्छ म कहेसु वलि एह वात ॥१६॥

लेसुतुह दुक्खडा देसु घण सूखड़ा, गुदवड वरसउला विदाम ।
खारिकुक्खुरहडि द्राख खज्जूरड़ी दाडिम खोड जे अवर नाम ॥१७॥

कणय मणि भूषणा वच्छ गह दूपण, धरि सिरे कड़िकरे बहुकन्ने ।
पिहरतु कापडा वारुय वापडा, जे न पिक्खति सुमणेवि अन्ने ॥१८॥

रूपिहि रूडिय चित्त नहुकूडिय, ललिय लावण्ण गुणवतु नारी ।
लाडण परणिय विसय सम्माणिय, सजम लेय पछइ विचारी ॥१९॥

कहतह सोहलउ धरत रूह दोहिलउ, पच महव्वय भारु जेम ।
आविय मइ मतिहि मयण मय दतिहि, लोह चिण माउचावे जुकेम॥२०॥

माय गुरू अधिय तज अविगाधिय चीवर रुचइ मह मण मझारि ।
विसय सुह चचल अनइ हलाहला केम कहि परण्यउ तेण नारि ॥२२॥

अइव साहस्स वरि विसम मत्रि ते करड,कज्जुमह सजमा ए सुदेहि ।
जाणि अणणो सुय चरण कय निच्छय, भणय वच्छ वछिय करेसु ॥२३॥

॥ वस्तु ॥

अह महेवइ अह महेवइ अन्त दिवसामि वाणारि आवियउ खेमकिति ।
तसु तणइ उवए सइ उम्हायउ देल्हवर दिवरत कुमरि परणिवा रेसिहि ।
माय मनावइ मन रलिय, मुज्झ मनोरथ पूरि ।
पुत चित्त जाणी भणइ, लयव्रत पातग चूरि ॥२४॥

॥ भास ॥

लखु भादउ केल्हराज जसु वधव धनवत ।
करइ अनोपम धरमकाज,सहजिहि माहुसवत ॥२५॥
ते मेलेविणु सघ घणा, कु कुत्तडिय पठावि ।
सोहइ सासण जस्म तणउ ए,विम्तरि जान वलावि।२६॥
खूप अनोमम धरइ सिरि, वाहइ वाहूय रक्ख ।
कानि सकचन रयण करे, मुद्रा कुमरि सदक्ख ॥२७॥
क्रमि क्रमि देल्हउ कुमरु वगो, राडद्रहिपुरि पत्तु ।
वदिय भावइहि सूरिवरो नव अण वट सजुत ॥२८॥
आपइ देमण पूगफल, जानह तणइ प्रवेसि ।
सामहणी हिव गुरू करए, वय वीवाह हरेमि ॥२९॥
धस मस धावइ धामिणो ए, धम्मह केरड काजि ।
गावइ गायणि कामिणी, रहिउ अबर गाजि ॥३०॥

॥ भास ॥

मडिय चउरिय नदि, सवि मुयण मिलि आणदिए ।
नदिय आगम वेद ए, गुरू माहण भणइ अखेदए ॥३१॥
गावइ मगल चारुए, तिणि अवसर सूहव नारिए ।
ज्झाणानल पजलतिए, धय चिक्कण कम्मं दहतिए ॥३२॥
हथलेवउ कुमरेणए, लाडिय रयहरण करेण ए ।
सिरि जिणवर्द्धन सूरिए, सुभ लगनि करावियं भूरि ए ॥३३॥
चवद तेसठइ (१४६३) वच्छरिहि, आपाढा वदि एगारसिहि ।
देल्ह कुमरु गुरुवारि ए, परणिय गुरू दिक्स कुमारिए ॥३४॥
कीरतिराज प्रसिद्धिए, तसुनाम मनोरम कीधुए ।
अणवर नव परणाखियाए, सरमा सजमसिरि भाक्किया ए ॥३५॥
ववव सधर उदार ए, तसु वेवइ वित्त अपार ए ।
खेला - खेलाइ रंगिए, सवि वाजित्र वाइज चगिए ॥३६॥

॥ वस्तु ॥

कुमरु पत्तउ क्रमरु पत्तउ, जान मजुत्त ।
राडद्रहि पुरि सुघण भुयण, जणणि बधविहि सोहइ ।
नव अण वट सहिय जण मणु,अणेग आभरणि मोहइ ।
देल्लिग वरु चरणात्रियउ, मडिय पउरिय नदि ।
सिरि जिणवर्द्धनसूरिनिय, दिक्ख कुमरि आणदि ॥३७॥

॥ भास ॥

कहिय जिणवर तणा, भणिय
आगम छणा, लक्खण, तर्क नाटक पुराण ।
पच सुमितिहिं सहिय गुत्ति तिहिं,
अविरहिय वहरए कितिराजो सुजाण ॥३८॥
जाणि जिनवर्द्धनसूरि गुण वर्द्धन,
पडिय गुण गण माँहि राउ ।
चवदसह सत्तरे(१४७०) पट्टणे पुरवरे,
कियउ 'वाणारिउ' कित्तिराउ ॥३९॥
भविय जण बोहए वादि पड़ि रोहए,
लहुय वय तहवि गुरु गुण विसालो ।
भुयण सुपयास ए तिमिर भर नासए,
दिणयरो जह उदयमि वालो ॥४०॥
नयरि महेव ए चउदसय असियए(१४८०),
कित्तिराजोय जिणभद्द सूरि ।
दसमि वइसाह सुदि ठविय उवझाय पदि,
हरिसिय देवलदेवि भूरि ॥४१॥
करिय विहार सुविचार उत्तरदिशि,
निय सदाचार आगम बलेण ।
खरतराचार लीणाउ घण साविया,
निम्मया अभिनवा तत्थ तेणं ॥४२॥

॥ वस्तु ॥

नयरि पट्टणि नयरि पट्टणि, चवद सय सतरइ,
जिणवर्द्धनसूरि किय वणारि ।

अह महेत्रय वडमाहु सदि दसमि खणि चउद असीहि जिण भद्रसूरि ।

कित्तिराय उवज्झाय किय, हरसिय देवलदेवि ।
पडिवोहिय श्रावग घणा वहुय विहार करेसु ॥४३॥

॥ भास ॥

अहसिरि जेसलमेरु मझारी, उच्छव काराविजय वित्थारि ।
वधव लक्खउ केल्हउ साहू, वेचइ घनु मनि घरि उच्छाहु ॥४४॥
चउद मताणुवइ(१४९७)दसमि सिय माघे
सिरि जिण भद्रमूरि हरिसिय ।
सिरि आयरिय पदि अभिरमि,
किया सिरि कित्तिरयण सूरिनामि ॥४५॥

॥ वस्तु ॥

नयरि जेसल नयरि जेसल मेरु मझारि, जिणभद्दसूरिद ।
सिरि कितिराज आयरिय किद्धउ ।
सिरि कितिरयण पवर नाम तासु पसिद्धउ ।
चवदह सत्ताणवइ सिय माह दसमी वुधवारि ।
लक्खा केल्हा वधविहि, उच्छव किय वित्थारि ॥४६॥

॥ भास ॥

थापिउ सिरि जिणभद्दसूरि पाटिहि सिरि जिणचंदसूरि ।
कयउ लावण्णशीलो उवझाइ, कित्तीरयणसूरि सुगुण भूरि ॥४७॥

करिय वाणारिय नियकरे, पच दिक्खिया सीस आयरिय राउ ।
मालारोपण किद्ध सुपवच थापिया वहुय सघाहिवा ए ।।४८।।

आगम लक्खण तरक भणेवि करिय, पडित घणा सीस जेण ।
दिण पणवीस परमाण निय आउ जाणि सुह झाणि गय चडिय तेण।४६।।

करिय सलेहणा पनर उपवास सोलमइ अणसण उच्चरी ए ।
पनर पणवीस वइसाख वदि पतु पचमिहि सुहगुरु सुरपुरीए ।।५०।।

वीस पणदिण तव मुकृत भर सभव, उल्लासिय तेय तनु गुरुवराण ।
जाणु रवि मडल दिप्पइ निम्मल,आउ पुज्जति जह सिरि जिणाण।।५१।।

अणसण सीधउ तव सुरेहि किद्धउ कउतिग जडिय जिणहर कमाडि ।
दिवस दिवा किया लोक अवलोकिया, तक्खण वार पयड उघाडि ।।५२।।

हिवसिरि कित्तिरयणसूरि पाय थुमि पूजउ सुगुरु वृद्धि ।
वीरमपुरि जह ठवण जिणराय जेम हुइ तुम्ह सम्मत सुद्धि ।।५३।।

एह वीवाहलउ जो भणइ भावि तसु मणोवछिय देइ इदो ।
भत्त सिरि कित्तिरयणसूरि पाय सीस तसु कहइ कल्लाणचदो ।।५४।।

नेमिनाथमहाकाव्य : समीक्षात्मक विश्लेषण



जैन संस्कृत महाकाव्यो मे कविचक्रवर्ती कीर्त्तिराज उपाध्यायकृत नेमिनाथमहाकाव्य को गौरवमय पद प्राप्त है। इसमे जैन धर्म के बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रेरक चरित्र, महाकाव्योचित विस्तार के साथ, बारह सर्गो के व्यापक कलेवर मे प्रस्तुत किया गया है। कीर्त्तिराज कालिदासोत्तर उन इने-गिने कवियो मे हैं, जिन्होने माघ एवं श्रीहर्ष की कृत्रिम तथा अलकृति-प्रधान शैली के एकच्छत्र शासन से मुक्त होकर अपने लिए अभिनव सुरुचिपूर्ण मार्ग की उद्भावना की है। नेमिनाथमहाकाव्य मे भावपक्ष तथा कलापक्ष का जो मजुल समन्वय विद्यमान है, वह ह्रासकालीन कवियो की रचनाओ मे दुर्लभ है। पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा बौद्धिक विलास के उस युग मे नेमिनाथ-महाकाव्य जैसी प्रसादपूर्ण कृति की रचना करना कीर्त्तिराज की बहुत बडी उपलब्धि है।

नेमिनाथकाव्य का महाकाव्यत्व—

प्राचीन आलङ्कारिको ने महाकाव्य के जो मानदण्ड निश्चित किये हैं, नेमिनाथकाव्य मे उनका मनोयोगपूर्वक पालन किया गया है। शास्त्रीय विधान के अनुसार महाकाव्य मे शृङ्गार, वीर तथा शान्त मे से किसी एक रस की प्रधानता होनी चाहिए। नेमिनाथमहाकाव्य का अगी रस शृगार है। करुण, रौद्र, वीर आदि का, आनुषगिक रूप मे, यथोचित परिपाक हुआ है। क्षत्रियकुल-प्रसूत देवतुल्य नेमिनाथ इसके धीरोदात्त नायक हैं। इसकी

रचना धर्म तथा मोक्ष की प्राप्ति के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित है। धर्म का अभिप्राय यहाँ नैतिक उत्थान तथा मोक्ष का तात्पर्य आमुष्मिक अभ्युदय है। विषयो तथा अन्य साँसारिक आकर्षणो का तृणवत् परित्याग कर मानव को परम पद की ओर उन्मुख करना इसकी रचना का प्रेरणा-विन्दु है। नेमिनाथ महाकाव्य का कथानक नेमिप्रभु के लोकविख्यात चरित पर आश्रित है। इसका आधार मुख्यत जैन-पुराण हैं, यद्यपि प्राकृत तथा अपभ्रंश के अनेक कवि भी इसे अपने काव्यों का विषय बना चुके थे। इसके सक्षिप्त-से कथानक मे भी पाँचो नाट्यसन्धियों का निर्वाह हुआ है। प्रथम सर्ग मे शिवादेवी के गर्भ मे जिनेश्वर के अवतरित होने मे मुख-सन्धि है। इसमे काव्य के फलागम का बीज निहित है तथा उसके प्रति पाठक की उत्सुकता जाग्रत होती है। द्वितीय सर्ग मे स्वप्न-दर्शन से लेकर तृतीय सर्ग मे पुत्रजन्म तक प्रतिमुख सन्धि स्वीकार की जा सकती है, क्योकि मुख-सन्धि मे जिस कथाबीज का वपन हुआ था, वह यहाँ कुछ अलक्ष्य रह कर पुत्रजन्म से लक्ष्य हो जाता है। चतुर्थ से अष्टम सर्ग तक गर्भ सन्धि की योजना मानी जा सकती है। सूतिकर्म, स्नात्रोत्सव तथा जन्माभिषेक मे फलागम काव्य के गर्भ मे गुप्त रहता है। नवे से ग्यारहवे सर्ग तक, एक ओर, नेमिनाथ द्वारा विवाह-प्रस्ताव स्वीकार कर लेने से मुख्य फल की प्राप्ति मे बाधा उपस्थित होती है, किन्तु, दूसरी ओर, वधूगृह मे वध्य पशुओ का करुण क्रन्दन सुनकर उनके निर्वेदग्रस्त होने तथा दीक्षा ग्रहण करने से फलप्राप्ति निश्चित हो जाती है। यहाँ विमर्श सन्धि का निर्वाह हुआ है। ग्यारहवें सर्ग के अन्त मे केवलज्ञान तथा बारहवें सर्ग मे शिवत्व प्राप्त करने के वर्णन मे निर्वहण सन्धि विद्यमान है।

महाकाव्य-परिपाटी के अनुसार नेमिनाथमहाकाव्य मे नगर, पर्वत, वन, दूतप्रेषण, सैन्य-प्रयाण, युद्ध (प्रतीकात्मक), पुत्रजन्म, षड्ऋतु आदि के विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं, जो इसमे जीवन के विभिन्न पक्षो की अभिव्यक्ति तथा रोचकता का सचार करते हैं। इसका आरम्भ नमस्कारात्मक मगला-

चरण से हुआ है, जिसमे स्वयं काव्यनायक नेमिनाथ की चरण-वन्दना की गयी है। इसकी भाषा-शैली मे महाकाव्योचित उदात्तता है। अन्तिम सर्ग के एक अंश मे चित्रकाव्य की योजना करके कवि ने चमत्कृति उत्पन्न करने तथा अपने भाषाधिकार को व्यक्त करने का प्रयास किया है। काव्य का शीर्षक तथा सर्गों का नामकरण भी शास्त्रानुकूल है। कवि ने सज्जन-प्रशंसा, खलनिन्दा तथा नगर वर्णन की रूढियो का भी पालन किया है। किन्तु छन्दप्रयोग-सम्बन्धी परम्परागत बन्धन उसे मान्य नही। इस प्रकार नेमिनाथ काव्य मे महाकाव्य के अनिवार्य न्यून, सभी तत्त्व विद्यमान हैं, जो इसकी सफलता के निश्चित प्रमाण हैं।

नेमिनाथमहाकाव्य की शास्त्रीयता—

नेमिनाथमहाकाव्य पौराणिक कृति है अथवा इसकी गणना शास्त्रीय महाकाव्यो में की जानी चाहिए, इसका निश्चित निर्णय करना कठिन है। इसमे, एक ओर, पौराणिक महाकाव्य के तत्त्व दृष्टिगोचर होते है, तो दूसरी ओर यह शास्त्रीय महाकाव्य के गुणो से भूषित है। पौराणिक महाकाव्यो के अनुरूप इसमें शिवादेवी के गर्भ मे जिनेश्वर का अवतरण होता है जिसके फलस्वरूप उसे भावी तीर्थंकर के जन्म के सूचक परम्परागत चौदह स्वप्न दिखाई देते हैं। दिक्कुमारियाँ नवजात शिशु का सूतिकर्म करती हैं। उसका स्नात्रोत्सव स्वय देवराज द्वारा सम्पन्न होता है। दीक्षा से पूर्व भी वह काव्यनायक नायक का अभिषेक करता है। वस्तुत वह सेवक की भाँति हर महत्वपूर्ण अवसर पर उनकी सेवा मे रत रहता है। काव्य मे समाविष्ट दो स्वतन्त्र स्तोत्र तथा जिनेश्वर का प्रशस्तिगान भी इसकी पौराणिकता को इगित करते हैं। पौराणिक महाकाव्यो की परिपाटी के अनुसार इसमे नारी को जीवन-पथ की बाधा माना गया है तथा इसका पर्यवसान शान्तरस मे हुआ है। काव्यनायक दीक्षित होकर केवलज्ञान तथा अन्तत शिवत्व को प्राप्त करते है। उनकी देशना का समावेश भी काव्य में हुआ है।

इन समूचे पौराणिक तत्वो के विद्यमान होने पर भी नेमिनाथकाव्य को पौराणिक महाकाव्य नही माना जा सकता। इसमे शास्त्रीय महाकाव्य के के लक्षण इतने स्पष्ट तथा प्रचुर हैं कि इसकी पौराणिकता उनके सिन्धुप्रवाह मे पूर्णतया मज्जित हो जाती है। वर्ण्य-वस्तु तथा अभिव्यजना-शैली मे वैषम्य, यह ह्रासकालीन शास्त्रीय महाकाव्य की मुख्य विशेषता है, जो नेमिनाथ काव्य मे भरपूर विद्यमान है। शास्त्रीय महाकाव्यो की भाँति इसमे वस्तुव्यापार के वर्णनो की विस्तृत योजना की गई है। वस्तुत, काव्य मे इन्ही का प्राधान्य है और इन्ही के माध्यम से कवि-प्रतिभा की अभिव्यक्ति हुई है। इसकी भाषा-शैलीगत प्रौढता तथा गरिमा और चित्रकाव्य के द्वारा रचना-कौशल के प्रदर्शन की प्रवृत्ति इसकी शास्त्रीयता का निर्भ्रान्त उद्घोष है। इनके अतिरिक्त अल-कारो का भावपूर्ण विधान, काव्य-रूढियो का निष्ठापूर्वक विनियोग, तीव्र रस व्यजना, सुमधुर छन्दो का प्रयोग, प्रकृति तथा मानव-सौन्दर्य का हृदयग्राही चित्रण आदि शास्त्रीय काव्यों की ऐसी विशेषतायें इस काव्य मे हैं कि इसकी शास्त्रीयता मे तनिक सन्देह नही रह जाता। वस्तुत, नेमिनाथमहाकाव्य की समग्र प्रकृति तथा वातावरण शास्त्रीय शैली के महाकाव्य के समान है। अत इसे शास्त्रीय महाकाव्य मानना सर्वथा न्यायोचित है।

कविपरिचय तथा रचनाकाल—

अधिकाश जैन काव्यो की रचना-पद्धति के विपरीत नेमिनाथमहा-काव्य मे प्रान्त-प्रशस्ति का अभाव है। काव्य से भी कीर्त्तिराज के जीवन अथवा स्थिति-काल का कोई सकेत नही मिलता। अन्य ऐतिहासिक लेखों के आधार पर उनके जीवनवृत्त का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है। उनके अनुसार कीर्त्तिराज अपने समय के प्रख्यात तथा प्रभावशाली खरतर-गच्छीय आचार्य थे। वे सखवाल गोत्रीय शाह कोचर के वशज दीपा के कनिष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म सम्वत् १४४९ मे दीपा की पत्नी देवलदे की कुक्षि से हुआ। उनका जन्म का नाम देल्हाकुवर था। देल्हाकुवर ने चौदह वर्ष की

अल्पावस्था मे, सम्वत् १४६३ की आषाढ कृष्णा एकादशी को, आचार्य जिनवर्द्धनसूरि से दीक्षा ग्रहण की। आचार्य ने नवदीक्षित कुमार का नाम कीर्त्तिराज रखा। कीर्त्तिराज के साहित्य-गुरु भी जिनवर्द्धनसूरि ही थे। उनकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर जिनवर्द्धनसूरि ने उन्हे सवत् १४७० मे वाचनाचार्य पद पर तथा दस वर्ष पश्चात् जिनभद्रसूरि ने उन्हे, मेहवे मे, उपाध्याय पद पर पतिष्ठित किया। पूर्व देशो का विहार करते समय जब कीर्त्तिराज का जैसलमेर मे आगमन हुआ, तो गच्छनायक जिनभद्रसूरि ने उन्हे सम्वत् १४९७ मे आचार्य पद प्रदान किया। तत्पश्चात् वे कीर्त्तिरत्न सूरि नाम से प्रख्यात हुए। उन्होंने पच्चीस दिन की अनशन-आराधना के पश्चात् सम्वत् १५२५ मे, ७६ वर्ष की प्रोढावस्था मे, वीरमपुर मे देहोत्सर्ग किया। सघ ने वहाँ एक स्तूप का निर्माण कराया, जो अब भी विद्यमान है। जयकीर्त्ति तथा अभयविलासकृत गीतो से ज्ञात होता है कि सम्वत् १८७९ मे गडाले (बीकानेर का समीपवर्ती ग्राम नाल) मे उनका प्रासाद बनवाया गया था। नेमिनाथकाव्य के अतिरिक्त उनके कतिपय स्तवनादि भी उपलब्ध हैं।[1]

नेमिनाथमहाकाव्य उपाध्याय कीर्त्तिराज की रचना है। कीर्त्तिराज को उपाध्याय पद सम्वत् १४८० मे प्राप्त हुआ था और स० १४९७ मे वे आचार्य पद पर आसीन होकर कीर्त्तिरत्न सूरि बन चुके थे। नेमिनाथकाव्य स्पष्टतः स० १४८० तथा १४९७ के मध्य लिखा गया होगा। सम्वत् १४९५ मे लिखित इसकी प्राचीनतम प्रति के आधार पर नेमिनाथकाव्य को उक्त सम्वत् की रचना मानने की कल्पना की गई है।[2] यह तथ्य के बहुत निकट है।

---

१. विस्तृत परिचय के लिये देखिये श्री अगरचन्द नाहटा तथा भवरलाल नाहटा-द्वारा सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह', पृ० ३६–४०।

२. जिनरत्नकोश, विभाग १, पृ० २१७।

कथानक—

नेमिनाथमहाकाव्य के बारह सर्गों मे तीर्थङ्कर नेमिनाथ का जीवन-चरित निबद्ध करने का उपक्रम किया गया है। कवि ने जिस परिवेश मे जिन-चरित प्रस्तुत किया है, उसमे उसकी कतिपय प्रमुख घटनाओ का ही निरूपण सम्भव हो सका है।

प्रथम सर्ग मे यादवराज समुद्रविजय की पत्नी शिवादेवी के गर्भ मे बाईसवें जिनेश के अवतरण का वर्णन है। अलकारो की विवेकपूर्ण योजना तथा बिम्बवैविध्य के द्वारा कवि राजधानी सूर्यपुर का रोचक कवित्वपूर्ण चित्र अकित करने मे समर्थ हुआ है। द्वितीय सर्ग मे शिवादेवी परम्परागत चौदह स्वप्न देखती है। समुद्र विजय स्वप्नफल बतलाते हैं कि इन स्वप्नो के दर्शन से तुम्हे प्रतापी पुत्र प्राप्त होगा, जो अपने भुजबल से चारो दिशाओ को जीत कर चौदह भुवनो का अधिपति बनेगा। प्रभात-वर्णन नामक इस सर्ग के शेषाश मे प्रभात का मार्मिक वर्णन हुआ है। तृतीय सर्ग मे ज्योतिषी उक्त स्वप्नफल की पुष्टि करते हैं। समय पर शिवा ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। चतुर्थ सर्ग मे दिक्कुमारियाँ नवजात शिशु का सूतिकर्म करती हैं। मेरु-वर्णन नामक पचम सर्ग मे इन्द्र शिशु को जन्माभिषेक के लिये मेरु पर्वत पर ले जाता है। इसी प्रसग मे मेरु का वर्णन किया गया है। छठे सर्ग मे शिशु के स्नात्रोत्सव का वर्णन है। सातवें सर्ग मे चोटियो से पुत्र-जन्म का समाचार पाकर समुद्रविजय आनन्दविभोर हो जाता है। वह पुत्रप्राप्ति के उपलक्ष्य मे राज्य के समस्त बन्दियो को मुक्त कर देता है तथा जीववध पर प्रतिबन्ध लगा देता है। शिशु का नाम अरिष्टनेमि रखा गया। आठवें सर्ग में अरिष्टनेमि के शारीरिक सौन्दर्य एव शक्तिमत्ता का तथा परम्परागत छह ऋतुओं का हृदयग्राही वर्णन है। एक दिन नेमिनाथ ने पाचजन्य को कौतुक-वश इस वेग से फूँका कि तीनो लोक भय से कम्पित हो गये। और शक्ति-परीक्षा मे कृष्ण को परास्त कर उन्हे आशकित कर दिया कि कही यह मुझे

राज्यच्युत न कर दे, किन्तु उन्होने कृष्ण को आश्वासन दिया कि मुझे सासारिक विषयो मे रुचि नही, तुम निर्भय होकर राज्य का उपभोग करो। नवें सर्ग मे नेमिनाथ के माता-पिता के आग्रह से श्रीकृष्ण की पत्नियाँ, नाना युक्तियाँ देकर उन्हे वैवाहिक जीवन मे प्रवृत्त करने का प्रयास करती हैं। उनका प्रमुख तर्क है कि मोक्ष का लक्ष्य सुख-प्राप्ति है, किन्तु यदि वह विषयो के भोग से ही मिल जाये, तो कष्टदायक तप की क्या आवश्यकता ? नेमिनाथ उनकी युक्तियों का दृढतापूर्वक खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि मोक्ष-जन्य आनन्द तथा विषय-सुख मे उतना ही अन्तर है जितना गाय तथा स्नुही के दूध मे। किन्तु माता के अत्यधिक आग्रह से वे, केवल उनकी इच्छापूर्ति के लिये, गार्हस्थ्य जीवन मे प्रवेश करना स्वीकार कर लेते हैं। उग्रसेन की लावण्यवती पुत्री राजीमती से उनका विवाह निश्चित होता है। दसवें सर्ग मे नेमिनाथ वधूगृह को प्रस्थान करते हैं। यही उन्हे देखने को लालायित पुर-सुन्दरियो के सम्भ्रम तथा तज्जन्य चेष्टाओ का रोचक वर्णन किया गया है। वधूगृह मे बारात के भोजन के लिए बंधे हुए मरणोन्मुख निरीह पशुओ का चीत्कार सुनकर उन्हे आत्मग्लानि होती है, और वे विवाह को बीच मे ही छोडकर दीक्षा ग्रहण कर लेते है। ग्यारहवें सर्ग के पूर्वार्द्ध मे अप्रत्याशित प्रत्याख्यान से अपमानित राजीमती का करुण विलाप है। मोह-सयम-युद्ध वर्णन नामक इस सर्ग के उत्तरार्द्ध मे मोह और सयम के प्रतीकात्मक युद्ध का अतीव रोचक वर्णन है। पराजित होकर मोह नेमिनाथ के हृदय-दुर्ग को छोड देता है जिससे उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। बारहवें सर्ग मे श्रीकृष्ण आदि यादव केवलज्ञानी प्रभु की वन्दना करने के लिये उज्जयन्त पर्वत पर जाते हैं। जिनेश्वर की देशना के प्रभाव से उनमे से कुछ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं तथा कुछ श्रावक धर्म स्वीकार करते हैं। जिनेन्द्र राजीमती को चरित्र रथ पर बैठाकर मोक्षपुरी भेज देते हैं और कुछ समय पश्चात् अपनी प्राणप्रिया से मिलने के लिये स्वय भी परम पद को प्रस्थान करते हैं।

कथानक के निर्वाह की दृष्टि से नेमिनाथमहाकाव्य को सफल नही कहा जा सकता। कीर्त्तिराज का कथानक अत्यल्प है, किन्तु कवि ने उसे विविध वर्णनो, सवादो तथा स्तोत्रो से पुष्ट-पूरित कर वारह सर्गो के विस्तृत आलवाल मे आरोपित किया है। यह विस्तार महाकाव्य की कलेवर-पूर्ति के लिये भले ही उपयुक्त हो, इससे कथावस्तु का विकासक्रम विशृंखलित हो गया है और कथा प्रवाह की सहजता नष्ट हो गई है। पग-पग पर प्रासगिक-अप्रासगिक वर्णनो के सेतु वाँध देने से काव्य की कथावस्तु रुक-रुककर मन्द गति से आगे वढती है। वस्तुत, कथानक की ओर कवि का अधिक ध्यान नही है। काव्य के अधिकाश मे वर्णनो की ही भरमार है। कथावस्तु का सूक्ष्म सकेत करके कवि तुरन्त किसी-न-किसी वर्णन मे जुट जाता है। कथानक की गत्यात्मकता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि तृतीय सर्ग मे हुए पुत्रजन्म की सूचना समुद्र-विजय को सातवें सर्ग मे मिलती है। मध्यवर्ती तीन सर्ग शिशु के सूतिकर्म, जन्माभिषेक आदि के विस्तृत वर्णनो पर व्यय कर दिये गये हैं। तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ यह जानना रोचक होगा कि रघुवश मे, द्वितीय सर्ग मे जन्म लेकर रघु, चतुर्थ सर्ग मे, दिग्विजय से लौट भी आता है। काव्य के अधिकाश भाग का मूलकथा के साथ सम्वन्ध वहुत सूक्ष्म है। इसलिये काव्य का कथानक लँगडाता हुआ ही चलता है। किन्तु यह स्मरणीय है कि तत्कालीन महाकाव्य-परिपाटी ही ऐसी थी कि मूलकथा के सफल विनियोग की अपेक्षा विषयान्तरो को पल्लवित करने मे ही काव्यकला की सार्थकता मानी जाती थी। अत कीर्त्तिराज को इसका सारा दोष देना न्याय्य नही। वस्तुत, उन्होंने इन वर्णनो को अपनी वहुश्रुतता का क्रीडागन न वनाकर तत्कालीन काव्यरूढि के लौहपाश से वचने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है।

नेमिनाथमहाकाव्य में प्रयुक्त कतिपय काव्यरूढियाँ—

सस्कृत महाकाव्यो की रचना एक निश्चित ढर्रे पर हुई है जिससे उनमे अनेक शिल्पगत समानतायें दृष्टिगम्य होती है। शास्त्रीय मानदण्डो के निर्वाह

के अतिरिक्त उनमे कतिपय काव्यरूढियो का मनोयोगपूर्वक पालन किया गया है। यहां हम नेमिनाथमहाकाव्य मे प्रयुक्त दो रूढियो की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं, क्योकि काव्य मे इनका विशिष्ट स्थान है तथा ये, इन रूढियो के तुलनात्मक अध्ययन के लिये, रोचक सामग्री प्रस्तुत करती हैं। प्रथम रूढि का सम्बन्ध प्रभातवर्णन से है। प्रभात-वर्णन की परम्परा कालिदास तथा उनके परवर्ती अनेक महाकाव्यो मे उपलब्ध है। कालिदास का प्रभात वर्णन (रघुवश, ५।६६–७५), आकार मे छोटा होता हुआ भी, मार्मिकता मे बेजोड है। माघ का प्रभात वर्णन बहुत विस्तृत है, यद्यपि प्रात काल का इस कोटि का अलकृत वर्णन समूचे साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य काव्यो मे प्रभात वर्णन के नाम पर पिष्टपेषण अधिक हुआ है। कीर्तिराज का यह वर्णन कुछ लम्बा अवश्य है, किन्तु वह यथार्थता तथा सरसता से परिपूर्ण है। माघ की भाँति उसने न तो दूर की कोडी फेंकी है और न वह ज्ञान-प्रदर्शन के फेर मे पडा है। उसने तो, कुशल चित्रकार की तरह, अपनी ललित-प्राजल शैली मे प्रात कालीन प्रकृति के मनोरम चित्र अकित करके तत्कालीन वातावरण को सहज उजागर कर दिया है।[3] मागधो द्वारा राजस्तुति, हाथी के जागकर भी मस्ती के कारण आँखें न खोलने तथा करवट बदलकर शृंखलारव करने[4] और घोडो द्वारा नमक चाटने की रूढि का भी इस प्रसग मे प्रयोग किया गया है। अपनी स्वाभाविकता तथा

---

३. ध्याने मन स्व मुनिभिर्विलम्बित, विलम्बितं कर्कशरोचिषा तमः।
सुष्वाप यस्मिन् कुमुद प्रभासित, प्रभासित पङ्कजबांधवोपलै. ॥
नेमिनाथमहाकाव्य, २।४१

४. निद्रासुख समनुभूय चिराय रात्रावुद्भूतश्रृङ्खलारवं परिवर्त्य पार्श्वम्।
प्राप्य प्रबोधमपि देव ! गजेन्द्र एष नोन्मीलयत्यलसनेत्रयुग मदान्ध ॥
वही, २।५४

मार्मिकता के कारण कीर्त्तिराज का यह वर्णन संस्कृत-साहित्य के उत्तम प्रभात वर्णनो से होड कर सकता है।

नायक को देखने को उत्सुक पौर युवतियो की आकुलता तथा तज्जन्य चेष्टाओ का वर्णन करना संस्कृत-महाकाव्यो की एक अन्य बहुप्रचलित रूढि है, जिसका प्रयोग नेमिनाथमहाकाव्य मे भी हुआ है। बौद्ध कवि अश्वघोष से आरम्भ होकर कालिदास, माघ, श्रीहर्ष आदि से होती हुई यह रूढि कतिपय जैन महाकाव्यो का अनिवार्य-सा अङ्ग बन गया है। अश्वघोष और कालिदास का यह वर्णन अपने सहज लावण्य से चमत्कृत है। माघ के वर्णन मे, उनके अन्य अधिकाश वर्णनो के समान, विलासिता की प्रधानता है। कीर्त्तिराज का सम्भ्रमचित्रण यथार्थता से ओत-प्रोत है, जिससे पाठक के हृदय मे पुरसुन्दरियो की त्वरा सहसा प्रतिविम्बित हो जाती है। नारी के नीवीस्खलन अथवा अधोवस्त्र के गिरने का वर्णन, इस सन्दर्भ मे, प्राय सभी कवियो ने किया है। कालिदास ने अधीरता को नीवीस्खलन का कारण बता कर मर्यादा की रक्षा की है।[5] माघ ने इसका कोई कारण नही दिया जिससे उसका विलासी रूप अधिक मुखर हो गया है।[6] नग्न नारी को जनसमूह में प्रदर्शित करना जैन यति की पवित्रतावादी वृत्ति के प्रतिकूल था। अत उसने इस रूढि को काव्य मे स्थान नही दिया। इसके विपरीत काव्य मे उत्तरीय के गिरने का वर्णन किया गया है। शुद्ध नैतिकतावादी दृष्टि से तो शायद यह भी औचित्यपूर्ण नही किन्तु नीवीस्खलन की तुलना मे यह अवश्य क्षम्य है, और कवि ने इसका जो कारण दिया है उसमे तो पुरसुन्दरी पर कामुकता का दोष आरोपित ही नही किया जा सकता। कीर्त्तिराज की नायिका हाथ

---

५ जालांतरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्ना न बबन्ध नीवीम्। रघुवंश, ७।६

६ अभिवीक्ष्य सामिकृतमण्डनं यतीः कररुद्धनीवीगलदंशुकाः स्त्रियः। शिशुपालवध, १३।३१

के आर्द्र प्रसाधन के मिटने के भय से, गिरते उतरीय को नही पकडती, और उसी अवस्था मे वह गवाक्ष की ओर दौड जाती है।[७]

प्रकृति-चित्रण -

नेमिनाथमहाकाव्य की भावसमृद्धि तथा काव्यमत्ता का प्रमुख कारण इसका मनोरम प्रकृति-चित्रण है, जिसके अन्तर्गत कवि की काव्य प्रतिभा का भव्य उन्मेष हुआ है। कीर्त्तिराज का प्रकृति-वर्णन प्राकृतिक तथ्यो का कोरा आकलन नही अपितु सरसता से ओत-प्रोत तथा कविकल्पना से उद्भासित काव्याश है। कवि ने, महाकाव्य के अन्य पक्षो की भाँति, प्रकृति-चित्रण मे भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। कालिदासोत्तर महाकाव्यो मे, प्रकृति के उद्दीपन पक्ष की पार्श्वभूमि मे उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा नायक-नायिकाओ के विलासिता-पूर्ण चित्र अकित करने की परिपाटी है। प्रकृति के आलम्बन पक्ष के प्रति वाल्मीकि तथा कालिदास का-सा अनुराग अन्य सस्कृत-कवियो मे दिखाई नही देता। कीर्त्तिराज ने यद्यपि विविध शैलियो मे प्रकृति का चित्रण किया है, किन्तु प्रकृति के स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करने मे उसका मन अधिक रमा है और इनमे ही उसकी काव्यकला का उत्कृष्ट रूप व्यक्त हुआ है।

प्रकृति के आलम्बन पक्ष का चित्रण कीर्त्तिराज के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिणाम है। वर्ण्य विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करने के पश्चात् अकित किये गये ये चित्र अद्भुत सजीवता से स्पन्दित हैं। हेमन्त मे दिन क्रमश छोटे होते जाते है और कुहासा उत्तरोत्तर बढता जाता है। सुपरिचित तथा सुरुचिपूर्ण उपमानो मे कवि ने इस हेमन्तकालीन तथ्य का ऐसा मार्मिक निरूपण किया है कि उपमित विषय तुरन्त प्रस्फुटित हो गया है।

---

७ काचित्कराद्रं प्रतिकर्मभगभयेन हित्वा पतदुत्तरीयम्।
मञ्जीरवाचालपदारविन्दा द्रुत गवाक्षाभिमुख चचाल ॥

नेमिनाथमहाकाव्य, १०।१३

उपययौ शनकैरिह लाघव दिनगणो खलराग इवानिशम् ।
ववृधिरे च तुषारसमृद्धयोऽनुसमयं सुजनप्रणया इव ॥ ८।४८

पावस मे दामिनी की दमक, वर्षा की अविराम फुहार तथा शीतल बयार मादक वातावरण की सृष्टि करती हैं। पवन-झकोरे खाकर मेघमाला मधुर-मन्द्र गर्जना करती हुई गगनागन मे घूमती फिरती है। कवि ने वर्षाकाल के इस सहज दृश्य को पुन उपमा के द्वारा अङ्कित किया है, जिससे अभिव्यक्ति को स्पष्टता तथा सम्पन्नता मिली है।

क्षरदभ्रजला कलगर्जिता सचपला चपलानिलनोदिता ।
दिवि चचाल नवाम्बुदमण्डली गजघटेव मनोभवभूपते ॥ ८।३८

कवि की इस निरीक्षण शक्ति तथा ग्रहणशीलता के कारण शरत् के समूचे गुण प्रस्तुत पद्य मे साकार हो गये हैं।

आप प्रसेदु' कलमा विपेचुर्हंसाश्चुकूजुर्जहसु कजानि ।
सम्भूय सानन्दमिवावतेरु शरद्गुणा सर्वजलाशयेषु ॥ ८।८२

नेमिनाथमहाकाव्य के प्रकृति-चित्रण मे कही-कही प्रकृति का सश्लिष्ट-स्वाभाविक रूप दृष्टिगत होता है। इस श्लेषोपमा मे शरत् की महत्त्वपूर्ण विशेषतायें अनायास उजागर हो गयी हैं।

रसविमुक्तविलोलपयोधरा हसितकाशलसत्पलितांकिता ।
क्षरत-पवित्रम-शालिकणद्विजा जयति कापि शरज्जरती क्षितौ ॥८।४३

नेमिनाथमहाकाव्य मे पशु प्रकृति का भी अभिराम चित्रण हुआ है। यह, एक ओर, कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का साक्षी है और दूसरी ओर उसके पशु-जगत् की चेष्टाओं के गहन अध्ययन को व्यक्त करता है। हाथी का यह स्वभाव है कि वह रात भर गहरी नीद सोता है। प्रात काल जागकर भी

वह अलसाई आँखो को मूँदे पडा रहता है, किन्तु वार-वार करवटें वदलकर पाँव की वेडी से शब्द करता है जिससे उसके जागने की सूचना गजपालो को मिल जाती है। निम्नोक्त स्वभावोक्ति मे यह गज-प्रकृति चित्रित है।

निद्रासुख समनुभूय चिराय रात्रावुद्भूतशृङ्खलारवं परिवर्त्य पार्श्वम् ।
प्राप्य प्रवोधमपि देव ! गजेन्द्र एष नोन्मीलयत्यलसनेत्रयुग मदान्धः ॥ २।५४

ह्रासकालीन महाकाव्य की प्रवृत्ति के अनुसार कीर्त्तिराज ने प्रकृति के उद्दीपन रूप का पल्लवन भी किया है । उद्दीपन रूप मे प्रकृति मानव की भावनाओ एवं मनोरोगो को झकझोर कर उसे अधीर वना देती है। प्रस्तुत पक्तियो मे स्मरपटहसदृश घनगर्जना विलासीजनो की कामाग्नि को प्रज्वलित कर रही है जिससे वे, रणशूर, कामरण मे पराजित होकर, अपनी प्राणवल्लभाओ की मनुहार करने को विवश हो जाते हैं।

स्मरपते. पटहानिव वारिदान् निनदतोऽथ निशम्य विलासिन ।
समदना न्यपतन्नवकामिनीचरणयो रणयोगविदोऽपि हि ॥ ८।३७

उद्दीपन पक्ष के इस वर्णन मे प्रकृति पृष्ठभूमि में चली गयी है और प्रेमी युगलो का भोग-विलास प्रमुख हो उठा है, किन्तु इसकी गणना उद्दीपन के अन्तर्गत ही की जायेगी।

प्रियकर कठिनस्तनकुम्भयो प्रियकर सरसार्तवपल्लवै. ।
प्रियतमां समवीजयदाकुलां नवरतां वरतान्तलतागृहे ॥ ८।२३

नेमिनाथमहाकाव्य मे प्रकृति का मानवीकरण भी हुआ है। प्रकृति पर मानवीय भावनाओ तथा कार्यकलापो का आरोप करने से उसकी जडता समाप्त हो जाती है, उसमे प्राणो का स्पन्दन हो जाता और वह मानव की भाँति आचरण करने लगती है। प्रात.काल, सूर्य के उदित होते ही, कमलिनी विकसित हो जाती है और भौंरे उसका रसपान करने लगते हैं। कवि ने

इसका चित्रण सूर्य पर नायक और भ्रमरो पर परपुरुष का आरोप करके किया है। अपनी प्रेयसी को परपुरुषो से चुम्बित देखकर सूर्य (पति) क्रोध से लाल हो गया है और कठोर पादप्रहार से उस व्यभिचारिणी को दण्डित कर रहा है।

यत्र भ्रमद्भ्रमरचुम्बिताननामवेक्ष्य कोपादिव मूर्ध्नि पद्मिनीम्।
स्वप्रेयसीं लोहितमूर्तिमावहन् कठोरपादैर्निजघान तापन. ॥ २।४२

निम्नलिखित पद्य मे लताओ को प्रगल्भा नायिकाओ के रूप मे चित्रित किया गया है, जो पुष्पवती होती हुई भी तरुणो के साथ बाह्य रति मे लीन हैं।

कोमलाग्यो लताकान्ता प्रवृत्ता यस्य कानने।
पुष्पवत्योऽप्यहो चित्रं तरुणालिगनं व्यधु ॥ १३।१

काव्य मे कतिपय स्थलो पर प्रकृति का आदर्श रूप चित्रित है। ऐसे प्रसगो मे प्रकृति अपने स्वाभाविक गुण छोडकर निराला आचरण करती है। जिन-जन्म के अवसर पर प्रकृति का यही रूप परिलक्षित होता है।

सपदि दशदिशोऽत्रामेयनैर्मल्यमापु
समजनि च समस्ते जीवलोके प्रकाश।
अपि ववुरनुकूला वायवो रेणुवर्जं
विलयमगमदापद् दौस्थ्यदु ख पृथिव्याम् ॥ ३।३६

प्रकृति-चित्रण मे कीर्त्तिराज ने परिगणनात्मक शैली को भी अपनाया है। प्रस्तुत पद्य मे विभिन्न वृक्षो के नामो की गणना मात्र कर दी गयी है।

सहकार एष खदिरोऽयमर्जुनोऽयमिमौ पलाशबकुलौ सहोदगतौ।
कुटजावमू सरल एष चम्पको मदिराक्षि शैलविपिने गवेष्यताम् ॥ १२।१३

काव्य मे एक स्थान पर प्रकृति स्वागतकर्त्री के रूप मे प्रकट हुई है ।

रचयितुं ह्युचितामतिथिक्रियां पथिकमाह्वयतीव सगौरवम् ।
कुसुमिता फलिताम्रवणावली सुवयसां वयसां कलकूजितैः ॥८।१८

इस प्रकार कीर्त्तिराज ने प्रकृति के विविध रूपो का चित्रण किया है । ह्रासकालीन संस्कृत महाकाव्यकारो की भाँति उन्होंने प्रकृति चित्रण मे यमक की योजना की है, किन्तु उसका यमक न केवल दुरूहता से मुक्त है अपितु इससे प्रकृति-वर्णन की प्रभावशालिता मे वृद्धि हुई है ।

सौन्दर्यचित्रण —

नेमिनाथमहाकाव्य मे कतिपय पात्रो के कायिक सौन्दर्य का हृदयहारी चित्रण किया गया है, किन्तु कवि की कला की सम्पदा राजीमती तथा देवागनाओ के चित्रो को ही मिली है । चिरप्रतिष्ठित परम्परा से हटकर किसी अभिनव प्रणाली की उद्भावना करना सम्भव नही था । इसीलिये अपने पात्रो के अङ्गो-प्रत्यङ्गो के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कीर्त्तिराज ने नखशिखविधि का आश्रय लिया है, किन्तु उसके सादृश्य-विधान-कौशल के कारण उसके सभी सौन्दर्य-वर्णनो मे बराबर रोचकता बनी रहती है । नवीन उपमानो की योजना करने से काव्यकला मे प्रशसनीय भाव-प्रेषणीयता आई है । निम्नोक्त पद्य मे देवागनाओ की जघनस्थली की तुलना कामदेव की आसनगद्दी से की गई है, जिससे उसकी पुष्टता तथा विस्तार का तुरन्त भान हो जाता है ।

वृता दुकूलेन सुकोमलेन विलग्नकांचीगुणजात्यरत्ना ।
विभाति यासां जघनस्थली सा मनोभवस्यासनगद्दिकेव ॥६।४७

इसी प्रकार राजीमती की जङ्घाओ को कदलीस्तम्भ तथा कामगज के आलान के रूप मे चित्रित करके एक ओर उनकी सुडौलता तथा शीतलता

को व्यक्त किया गया है, दूसरी ओर उनकी वशीकरण-क्षमता का सकेत कर दिया गया है ।

बभावूरुयुग यस्या. कदलीस्तम्भकोमलम् ।
आलान इव दुर्दन्त-मीनकेतन-हस्तिन. ॥६.५५

नेमिनाथमहाकाव्य मे उपमान की अपेक्षा उपमेय अङ्गो का वैशिष्ट्य बताकर व्यतिरेक के द्वारा भी पात्रो का सौन्दर्य चित्रित किया गया है। नवयौवना राजीमती के लोकोत्तर मुख-सौन्दर्य को कवि ने इसी पद्धति मे सकेतित किया है । उसकी मुख-माधुरी से परास्त होकर लावण्यनिधि चन्द्रमा मुँह छिपाने के लिये आकाश मे मारा-मारा फिर रहा है ।

यस्या वक्त्रेण जित शके लाघव प्राप्य चन्द्रमा ।
तूलवद् वायुनोत्क्षिप्तो बम्भ्रमीति नभस्तले । ६।५२

रसयोजना—

परिवर्तनशील मनोरागो का यथातथ्य चित्रण करने मे कीर्तिराज को दक्षता प्राप्त है । उसकी तूलिका का स्पर्श पाकर साधारण से साधारण प्रसग भी रससिक्त हो उठा है । कवि की इस क्षमता के कारण धार्मिक वृत्त पर आधारित होता हुआ भी नेमिनाथमहाकाव्य पाठक को तीव्र रसानुभूति कराता है । शास्त्रीय नियम के अनुरूप इसमे, अगी रस के रूप मे, शृङ्गार का चित्रण हुआ है । करुण, रौद्र, शान्त आदि का भी यथोचित परिपाक हुआ है। ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत शृङ्गार के अनेक रमणीक चित्र अङ्कित हुए हैं । प्रकृति के उद्दीपन रूप से विचलित होकर मदिर मानस प्रेमी युगल कामकेलियो मे खो गये हैं ।

स्मरपते पटहानिव वारिदान् निनदतोऽथ निशम्य विलासिन ।
समदना न्यपतन्नवकामिनीचरणयो रणयोगविदोऽपि हि ॥८।३७

यहाँ नायक की नायिका-विषयक रति स्थायीभाव है। नवकामिनी आलम्बन विभाव हैं। कामदुन्दुभि-तुल्य मेघगर्जना उद्दीपन विभाव है। रण-जेता नायक का मानभजन के निमित्त नायिका के चरणो मे गिरना अनुभाव है। मद, औत्सुक्य, आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन भावो, विभावो तथा अनुभावो मे पुष्ट होकर नायक का स्थायी भाव शृगार के रूप मे निष्पन्न हुआ है।

निम्नोक्त पद्य मे भी शृङ्गार रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। उपवन के मादक वातावरण मे कामाकुल नायिका नए छैल पर रीझ गयी हो, तो इसमे आश्चर्य क्या ?

उपवने पवनेरितपादपे नवतर बत रतुमना परा।
सकरुणा करुणावचये प्रियं प्रियतमा यतमानमवारयत् ॥८।२२

नेमिनाथमहाकाव्य मे शृङ्गार के पश्चात् करुण रस का स्थान है। अप्रत्याशित प्रत्याख्यान से शोकतप्त राजीमती के विलाप मे करुण रस की सृष्टि हुई है। कुमारसम्भव के रतिविलाप की भांति यद्यपि इसमे उपालम्भ तथा क्रन्दन अधिक है तथापि यह हृदय की गहराई को छूने मे समर्थ है।

अथ भोजनरेन्द्रपुत्रिका प्रविमुक्ता प्रभुणा तपस्विनी।
व्यलपद् गलदश्रुलोचना शिथिलांगा लुठिता महीतले ॥११।१
मयि कोऽय मघोश ! निष्ठुरो व्यवसायस्तव विश्ववत्सल।
विरहय्य निजा. स्वधर्मिणीर्नहि तिष्ठन्ति विहगमा अपि ॥११।२
अपराधमृते विहाय मा यदि तामाद्रियसे व्रतस्त्रियम्।
बहुभि पुरुषै पुरा धृता नहि तन्नाथ ! कुलोचितं तव ॥११।४

रौद्र रस का परिपाक पाँचवे सर्ग मे, इन्द्र के क्रोध के वर्णन मे, हुआ है। सहसा सिंहासन हिलने से देवराज क्रोधोन्मत्त हो जाता है। उसकी कोप-जन्य चेष्टाओ मे रौद्ररस के अनुभावो की भव्य अभिव्यक्ति हुई है। क्रोध से

उसके माथे पर तेवड पड़ जाते हैं, भौंहे साँप-सी भीषण हो जाती हैं, आखें आग बरसाने लगती है और दान्त किटकिटा उठते हैं ।

ललाटपट्टे भ्रकुटीभयानके भ्रुवौ भुजगाविव दारुणाकृती ।
दृशः कराला ज्वलिताग्निकुण्डवच्चण्डायमाभ मुखमादधेऽसौ ॥
ददंश दन्तै रुषया हरिर्निजो रसेन शच्या अधराविवाधरौ ।
प्रस्फोरयामास करावितस्ततः क्रोधद्रुमस्योल्वणपल्लवाविव ॥५।३-४

प्रतीकात्मक सम्राट् मोह के दूत तथा संयमराज के नीति निपुण मन्त्री विवेक की उक्तियो के अन्तर्गत, ग्यारहवे सर्ग मे, वीर रस की कमनीय झाँकी देखने को मिलती है ।

यदि शक्तिरिहास्ति ते प्रभोः प्रतिगृह्णातु तदा तु तान्यपि ।
परमेव विलोलजिह्वया कपटी भाषयते जगज्जनम् ॥११।४४

मन्त्री विवेक का उत्साह यहाँ स्थायी भाव के रूप मे वर्तमान है । मोहराज आलम्बन है । उसके दूत की कटूक्तियाँ उद्दीपन का काम करती हैं । मन्त्री का विपक्ष को चुनौती देना तथा मोह की वाचालता का मजाक उडाना अनुभाव है । धृति, गर्व, तर्क आदि सचारी भाव है । इस प्रकार यहाँ वीर रस के समूचे उपकरण विद्यमान हैं ।

अन्य अधिकाश जैन काव्यों की भाति नेमिनाथमहाकाव्य का पर्यवसान शान्त रस में हुआ है । शान्त रस का आधारभूत तत्त्व(स्थायी भाव)निर्वेद है, जो काव्य-नायक के जीवन मे आद्यन्त अनुस्यूत है । और अन्तत वे केवल ज्ञान के सोपान से ही परम पद की अट्टालिका मे प्रवेश करते हैं । वधू-गृह के ग्लानिपूर्ण हिंसक दृश्य को देखकर तथा कृष्ण-पत्नियो की कामुकतापूर्ण युक्तियो को सुनकर उनकी वैराग्यशीलता का प्रबल होना स्वाभाविक था । इन सभी प्रसङ्गो मे शान्त रस की यथेष्ट अभिव्यक्ति हुई है । नेमिप्रभु की देशना का प्रस्तुत अंश मनुष्य को विषय-आकर्षणों तथा सम्बन्धो की क्षणिकता का भान कराकर उसे मोक्ष की ओर उन्मुख करता है ।

दिवसो यथा नहि विना दिनेश्वर सुकृत विना न च भवेत्त था सुखम् ।
तदवश्यमेव विबुधा सुखार्थिना सुकृत सदैव करणीयमादरात् ॥१२।४४

विघटते स्वजनश्च सुहृज्जनो विघटते च वपुर्विभवोऽपि च ।
विघटते नहि केवलमात्मन सुकृतमत्र परत्र च सचितम् । १२।४७

इस प्रकार कीर्तिराज ने काव्य मे रसात्मक प्रसङ्गो के द्वारा पात्रो के मनोभावो को वाणी प्रदान की है तथा काव्य-सौन्दर्य को प्रस्फुटित किया है ।

चरित्रचित्रण

नेमिनाथ महाकाव्य के सक्षिप्त कथानक मे पात्रों की सख्या भी सीमित है । कथानायक नेमिनाथ के अतिरिक्त उनके पिता समुद्रविजय, माता शिवा-देवी, राजीमती, उग्रसेन, प्रतीकात्मक सम्राट् मोह तथा सयम और दूत कैतव एव मन्त्री ही काव्य के पात्र हैं । परन्तु इन सबकी चरित्रगत विशेषताओ का निरूपण करने मे कवि को समान सफलता नही मिली है ।

नेमिनाथ

जिनेश्वर नेमिनाथ काव्य के नायक है । उनका चरित्र पौराणिक परिवेश मे प्रस्तुत किया गया है जिससे उनके व्यक्तित्व के कतिपय पक्ष ही निरूपित हो सके है और उसमे कोई नवीनता भी नही है । वे देवोचित विभूति तथा शक्ति से सम्पन्न हैं । उनके धरा पर अवतीर्ण होते ही समुद्रविजय के समस्त शत्रु निस्तेज हो जाते हैं । दिक्कुमारियाँ उनका सूतिकर्म करती हैं तथा उनका जन्माभिषेक करने के लिए स्वय सुरपति इन्द्र जिनगृह मे आता है । पाँचजन्य को फूँकना तथा शक्ति-परीक्षा मे षोडशकलासम्पन्न श्रीकृष्ण को पराजित करना उनकी दिव्य शक्तिमत्ता के प्रमाण हैं ।

नेमिनाथ का समूचा चरित्र विरक्ति के केन्द्र-बिन्दु के चारो ओर घूमता है । वे वीतराग नायक है । यौवन की मादक अवस्था मे भी वैषयिक

सुख उन्हे अभिभूत नही कर पाते। कृष्ण पत्नियाँ नाना प्रलोभन तथा युक्तियाँ देकर उन्हे विवाह करने को प्रेरित करती हैं, किन्तु वे हिमालय की भाँति अडिग तथा अडोल रहते हैं। उनका दृढ विश्वास है कि वैषयिक सुख परमार्थ के शत्रु हैं। उनसे आत्मा उसी प्रकार तृप्त नही होती जैसे जलराशि से सागर और काठ से अग्नि। उनके विचार में कामातुर मूढ ही धर्मौषधि को छोड कर नारी रूपी औषध का सेवन करता है। वास्तविक सुख ब्रह्मलोक मे विद्यमान है।

हित धर्मौषधं हित्वा मूढा कामज्वरार्दिता।
मुखप्रियमपथ्यन्तु सेवन्ते ललनौषधम् ॥६।२४

माता-पिता के प्रेम ने उन्हे उस सुख की प्राप्ति के मार्ग से एक पग ही हटाया था कि उनकी वैराग्यशीलता तुरन्त फुफकार उठती है। वधूगृह मे भोजनार्थ वन्य पशुओ का आर्त्त क्रन्दन सुनकर उनका निर्वेद प्रबल हो जाता है और वे विवाह को बीच मे ही छोडकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। उनकी साधना की परिणति शिवत्व-प्राप्ति मे होती है। अदम्य काम-शत्रु को पराजित करना उनकी धीरोदत्तता की प्रतिष्ठा है।

समुद्रविजय

यदुपति समुद्रविजय कथानायक के पिता है। उनमे समूचे राजोचित गुण विद्यमान हैं। वे रूपवान्, शक्तिशाली, ऐश्वर्यसम्पन्न तथा प्रखर मेधावी हैं। उनके गुण अलङ्करण मात्र नही हैं। वे व्यावहारिक जीवन मे उनका उपयोग करते हैं। (शक्तेरनुगुणा क्रिया १।३६)।

समुद्रविजय तेजस्वी शासक हैं। उनके वन्दी के शब्दो मे अग्नि तथा सूर्य का तेज भले ही शान्त हो जाए, उनका पराक्रम अप्रतिहत है।

विध्मायतेऽम्भसा वह्नि सूर्योऽब्देन पिधीयते।
न केनापि पर राजस्त्वत्तेज परिहीयते ॥७।२५

उनके सिंहासनारूढ होते ही उनके शत्रु म्लान हो जाते हैं। फलतः शत्रु-लक्ष्मी ने उनका इस प्रकार वरण किया जैसे नवयौवना बाला विवाहवेला मे पति का। उनका राज्य पाशविक बल पर आश्रित नही है। वे केवल क्षमा को नपुंसकता और निर्बाध प्रचण्डता को अविवेक मानकर, इन दोनो के समन्वय के आधार पर ही, राज्य का सञ्चालन करते हैं (१।४३)। 'न खरो न भूयसा मृदु' उनकी नीति का मूलमन्त्र है। प्रशासन के चारु सचालन के लिए उन्होंने न्यायप्रिय तथा शास्त्रवेत्ता मन्त्रियो को नियुक्त किया (१।४७)। उनके स्मितकांत ओष्ठ मित्रों के लिए अक्षय कोश लुटाते हैं, तो उनकी भ्रूभंगिमा शत्रुओ पर वज्रपात करती है।

वज्रदण्डायते सोऽयं प्रत्यनीकमहीभुजाम् ।
कल्पद्रुमायते कामं पादद्वद्वोपजीविनाम् ॥१।५२

प्रजाप्रेम समुद्रविजय के चरित्र का एक अन्य गुण है। यथोचित कर-व्यवस्था मे उसने सहज ही प्रजा का विश्वास प्राप्त कर लिया।

आकाराय ललौ लोकाद् भागधेयं न तृष्णया ॥१।४५

समुद्रविजय पुत्रवत्सल पिता हैं। पुत्रजन्म का समाचार सुनकर उनकी बाछें खिल जाती हैं। पुत्रप्राप्ति के उपलक्ष्य मे वे मुक्तहस्त से धन वितरित करते हैं, बन्दियो को मुक्त कर देते हैं तथा जन्मोत्सव का ठाटदार आयोजन करते हैं, जो निरन्तर बारह दिन चलता है। समुद्रविजय अन्तस् से धार्मिक व्यक्ति हैं। उनका धर्म सर्वोपरि है। आर्हत धर्म उन्हे पुत्र, पत्नी, राज्य तथा प्राणों से भी अधिक प्रिय है (१।४२)।

इस प्रकार समुद्रविजय त्रिवर्गसाधन मे रत हैं। इस सुव्यवस्था तथा न्यायपरायणता के कारण उनके राज्य मे समय पर वर्षा होती है, पृथ्वी रत्न उपजाती है और प्रजा चिरजीवी है। और वे स्वयं राज्य को इस प्रकार निश्चिन्त होकर भोगते है जैसे कामी कामिनी की कंचन-काया को।

समृद्धमभजद्राज्यं स समस्तनयामलम् ।
कामीव कामिनीकायं स समस्तनयामलम् ॥१।५४

राजीमती

राजीमती काव्य की दृढ-निश्चयी सती नायिका है । वह शीलसम्पन्न तथा अतुल रूपवती है । उसे नेमिनाथ की पत्नी बनने का सौभाग्य मिलने लगा था, किन्तु क्रूर विधि ने, पलक झपकते ही, उसकी नवोदित आशाओं पर पानी फेर दिया । विवाह मे भावी व्यापक हिंसा से उद्विग्न होकर नेमिनाथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। इस अकारण निराकरण से राजीमती स्तब्ध रह जाती है । बन्धुजनो के समझाने-बुझाने से उसके तप्त हृदय को सान्त्वना तो मिलती है, किन्तु उसका जीवनकोश रीत चुका है । वह मन से नेमिनाथ को सर्वस्व अर्पित कर चुकी थी, अत उसे ससार में अन्य कुछ भी ग्राह्य नही । जीवन की सुख-सुविधाओं तथा प्रलोभनों का तृणवत् परित्याग कर वह तप का कटीला मार्ग ग्रहण करती है और केवलज्ञानी नेमिप्रभु से पूर्व परम पद पाकर अद्भुत सौभाग्य प्राप्त करती है ।

उग्रसेन

भोजपुत्र उग्रसेन का चरित्र मानवीय गुणो से भूषित है । वह उच्चकुल-प्रसूत तथा नीतिकुशल शासक है । वह शरणागतवत्सल, गुणरत्नो की निधि तथा कीर्त्तिलता का कानन है। लक्ष्मी तथा सरस्वती, अपना परम्परागत वैर छोडकर, उसके पास एक-साथ रहती हैं। विपक्षी नृपगण उसके तेज से भीत होकर कन्याओं के उपहारो से उसका रोष शान्त करते हैं।

अन्य पात्र

शिवादेवी नेमिनाथ की माता है । काव्य मे उसके चरित्र का विकास नही हुआ है । प्रतीकात्मक सम्राट् मोह तथा सयम राजनीतिकुशल शासको की भाँति आचरण करते हैं । मोहराज दूत कैतव को भेजकर सयम-नृपति को नेमिनाथ का हृदय-दुर्ग छोडने का आदेश देता है । दूत पूर्ण निपुणता से अपने स्वामी का पक्ष प्रस्तुत करता है । सयमराज का मन्त्री विवेक दूत की उक्तियो का मुँह तोड उत्तर देता है ।

भाषा

नेमिनाथमहाकाव्य की सफलता का अधिकांश श्रेय इसकी प्रसादपूर्ण तथा प्राजल भाषा को है। विद्वत्ताप्रदर्शन, उक्तिवैचित्र्य, अलङ्करणप्रियता आदि समकालीन प्रवृत्तियों के प्रवल आकर्षण के समक्ष आत्म-समर्पण न करना कीर्तिराज की सुरुचि का द्योतक है। नेमिनाथमहाकाव्य की भाषा महाकाव्योचित गरिमा तथा प्राणवत्ता से मण्डित है। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है किन्तु अनावश्यक अलङ्करण की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं है। इसीलिए उसके काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का मनोरम समन्वय है। नेमिनाथकाव्य की भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि वह भाव तथा परिस्थिति की अनुगामिनी है। फलत वह प्रत्येक भाव अथवा परिस्थिति को तदनुकूल शब्दावली में व्यक्त करने में समर्थ है। भावानुकूल शब्दों के विवेकपूर्ण चयन तथा कुशल गुम्फन से ध्वनिसौन्दर्य की सृष्टि करने में कवि सिद्धहस्त है। अनुप्रास तथा यमक के विवेकपूर्ण प्रयोग से काव्य में मधुर झकृति का समावेश हो गया है। प्रस्तुत पद्य में यह विशेषता देखी जा सकती है।

गुरुणा च यत्र तरुण ऽगुरुणा वसुधा क्रियते सुरभिर्वसुधा।
कमनातुरैति रमणैकमना रमणी सुरस्य शुचिहारमणी ॥५।५१

शृङ्गार आदि कोमल भावों के चित्रण की पदावली माखन-सी मृदुल, सौन्दर्य-सी सुन्दर तथा यौवन-सी मादक है। ऐसे प्रसङ्गों में अल्प समास वाली पदावली का प्रयोग हुआ है। नवें सर्ग में भाषा के ये गुण भरपूर मात्रा में विद्यमान हैं। युवा नेमिनाथ को विषय-भोगों की ओर आकृष्ट करने के लिये भाषा की सरलता के साथ कोमलता भी आवश्यक थी।

विवाहय कुमारेन्द्र ! बालाश्चचललोचना।
भुङ्क्ष्व भोगान् समं ताभिरप्सरोभिरिवामरः ॥९।१२

हेमाब्जगर्भगौराङ्गीं मृगाक्षीं कुलबालिकाम्।
ये नोपभुञ्जते लोका वेधसा वञ्चिता हि ते ॥९।१४

यद्यपि समूचा काव्य प्रसाद गुण की माधुरी से ओत-प्रोत है, किन्तु सातवें सर्ग में प्रसाद का सर्वोत्तम रूप दीख पड़ता है। इसमें जिस सहज, सरल तथा सुबोध भाषा का प्रयोग हुआ है, उस पर साहित्यदर्पणकार की यह उक्ति 'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः' अक्षरशः चरितार्थ होती है।

बभौ राज्ञः सभास्थानं नानाविच्छित्तिसुन्दरम्।
प्रभोर्जन्ममहो द्रष्टुं स्वर्विमानमिवागतम् ॥७।१३
अनेकैः स्वार्थमिच्छद्भिर्वनीपकावनीपकैः।
राजमार्गस्तदाकीर्णः खगैरिव फलद्रुमः ॥७।१५

किन्तु कठोर प्रसङ्गों में भाषा ओज से परिपूर्ण हो जाती है। ओज-व्यंजक शब्दों के द्वारा यथेष्ट वातावरण का निर्माण करके कवि ने भाव-व्यंजना को अतीव समर्थ बनाया है। पाँचवें सर्ग में, इन्द्र के क्रोध वर्णन में, जिस पदावली की योजना की गयी है, वह अपने वेग तथा नाद से हृदय में स्फूर्ति का सचार करती है। इस दृष्टि से यह पद्य विशेष दर्शनीय है।

विपक्षपक्षक्षयबद्धकक्षं विद्युल्लतानामिव सचयं तत्।
स्फुरत्स्फुलिंगं कुलिशं करालं ध्यात्वेति यावत्स जिघृक्षति स्म ॥५।३

कीर्तिराज की भाषा में बिम्ब-निर्माण की पूर्ण क्षमता है। सम्भ्रम के चित्रण की भाषा त्वरा तथा वेग से पूर्ण है। अपने इस कौशल के कारण ही कवि, दसवें सर्ग में, पौर स्त्रियों की अधीरता तथा नायक को देखने की उत्सुकता को मूर्त रूप देने में समर्थ हुआ है। देवसभा के इस वर्णन में, इन्द्र के सहसा प्रयाण से उत्पन्न सभासदों की आकुलता, उपयुक्त शब्दावली के प्रयोग से, साकार हो गयी है।

दृष्टिं ददाना सकलासु दिक्षु किमेतदित्याकुलितं ब्रुवाणा।
उत्थानतो देवपतेरकस्मात् सर्वापि चुक्षोभ सभा सुधर्मा ॥५।१८

नेमिनाथमहाकाव्य सूक्तियों और लोकोक्तियों का विशाल कोश है। ये एक ओर कवि के लोकज्ञान को व्यक्त करती हैं और दूसरी ओर

काव्य की प्रभावकारिता मे वृद्धि करती हैं। कतिपय रोचक सूक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

१ ही प्रेम तद्यद्वशवर्तिचित्त प्रत्येति दु ख सुखरूपमेव ॥२।४३
२ उच्चैं स्थितिर्वा क्व भवेज्जडानाम् ॥६।१३
३ जनोऽभिनवे रमतेऽखिल ॥८।३
४. काले रिपुमप्या श्रयेत्सुधी ॥८।४६
५ शुद्धिर्न तपो विनात्मन ॥११।२३
६ नहि कार्या हितदेशना जडे ॥११।४८
७ नहि धर्मकर्मणि सुधीर्विलम्बते ॥१२।२
८ सुकृतैर्यशो नियतमाप्यते ॥१२।७

इन बहुमूल्य गुणो से भूषित होती हुई भी नेमिनाथकाव्य की भाषा मे कतिपय दोष हैं, जिनकी ओर सकेत न करना अन्यायपूर्ण होगा। काव्य मे कुछ ऐसे स्थलो पर विकट समासान्त पदावली का प्रयोग किया गया है, जहाँ उसका कोई औचित्य नही है। युद्धादि के वर्णन मे तो समासबहुला भाषा अभीष्ट वातावरण के निर्माण मे सहायक होती है, किन्तु मेरुवर्णन के प्रसङ्ग मे इसकी क्या सार्थकता है ?

भित्तिप्रतिज्वलदनेकमनोज्ञरत्ननिर्यन्मयूखपटलीसततप्रकाशा ।
द्वारेषु निर्मकरपुष्करिणीजलोर्मिमूर्छन्मरुत्पुषितयात्रिकगात्रघर्मा ॥५।१२॥

इसके अतिरिक्त कवि ने यत्र-तत्र छन्द पूर्ति के लिए अतिरिक्त पदो को ठूँस दिया है। 'स्वकान्तरक्ता' के पश्चात् 'पतिव्रता' का (२।३६), 'शुक' के साथ 'वि' का (२।५८), 'मराल' के साथ 'खग' का (२।५९), 'विशारद' के साथ 'विशेषज्ञ' का (११।१९) तथा 'वदन्ति' के साथ 'वाचम्' का (३।१८) का प्रयोग सर्वथा आवश्यक नही। इनसे एक ओर, इन स्थलो पर, छन्दप्रयोग मे कवि की असमर्थता व्यक्त होती है, दूसरी ओर यहाँ वह काव्यदोष आ गया है, जो साहित्यशास्त्र मे 'अधिक' नाम से ख्यात है।

फिर भी नेमिनाथमहाकाव्य की भाषा मे निजी आकर्षण है। वह प्रसगानुकूल, प्रौढ,, सहज तथा प्राजल है।

विद्वत्ताप्रदर्शन

भारवि ने जिन काव्यात्मक कलाबाजियो का आरम्भ किया था, उनके अदम्य आकर्षण से बचना प्रत्येक कवि के लिये सम्भव नही था। शैली में अधिकतर कालिदास के पगचिह्नो पर चलते हुए भी कीर्त्तिराज ने, अन्तिम सर्ग मे, चित्रकाव्य के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने तथा अपने पाण्डित्य की प्रतिष्ठा करने का साग्रह प्रयत्न किया है। सौभाग्यवश ऐसे पद्यो की सख्या अधिक नही है। सम्भवत वे इनके द्वारा सूचित कर देना चाहते है कि मैं समवर्ती काव्य-शैली से अनभिज्ञ अथवा चित्रकाव्य-रचना मे असमर्थ नही हूँ, किन्तु सुरुचि के कारण वह मुझे ग्राह्य नही है। आश्चर्य यह है कि नेमिनाथ-महाकाव्य मे इस शाब्दी-क्रीडा की योजना केवलज्ञानी नेमिप्रभु की वन्दना के अन्तर्गत की गयी है। इस साहित्यिक जादूगरी मे अपनी निपुणता का प्रदर्शन करने के लिये कवि ने भाषा का निर्मम उत्पीडन किया है, जिससे इस प्रसग मे वह दुरूहता से आक्रान्त हो गयी है।

कीर्त्तिराज का चित्रकाव्य बहुधा पादयमक की नीव पर आश्रित है, जिसमे समूचे चरण की आवृत्ति की जाती है, यद्यपि उसके अन्य रूपो का समावेश करने के प्रलोभन का भी वह सवरण नही कर सका। प्रस्तुत जिन-स्तुति का आधार पादयमक है।

> पुण्य ! कोपचयद न तावक पुण्यकोपचयद न तावकम्।
> दर्शन जिनप ! यावदीक्ष्यते तावदेव गददु स्यतादिकम् ॥ १२।३३

निम्नोक्त पद्य मे एकाक्षरानुप्रास है। इसकी रचना केवल एक व्यजन पर आश्रित है, यद्यपि इसमे तीन स्वर भी प्रयुक्त हुए है।

> अतीतान्तेत एता ते तन्तन्तु तततातततिम्।
> ऋतता ता तु तोतोत्तु तातोऽत्तर्ता ततोऽन्ततुत् ॥ १२।३७

यह पद्य और भी चमत्कारजनक है। इसमे केवल दो अक्षरो, ल और क, का प्रयोग किया गया है।

लुलल्लीलाकलाकेलिकीला केलिकलाकुलम् ।
लोकालोकाकलकाल कोकिलकुलालका ॥ १२।३६

प्रस्तुत पद्य की रचना अर्ध-प्रतिलोमविधि से हुई है। अत, इसके पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध को, प्रारम्भ तथा अन्त से एक समान पढा जा सकता है।

तुद मे ततदम्भत्व त्व भदन्ततमेद तु ।
रक्ष तात ! विशामीश ! शमीशावितताक्षर ॥ १२।३८

इन दो पद्यो की पदावली मे पूर्ण साम्य है, किन्तु पदयोजना तथा विग्रह के वैभिन्न्य के आधार पर इनसे दो स्वतन्त्र अर्थ निकलते है। साहित्य-शास्त्र की शब्दावली मे इसे महायमक कहा जायेगा।

महामद भवारागहरि विग्रहहारिणम् !
प्रमोदजाततारेन श्रेयस्कर महासकम् ॥
महाम दम्भवारागहरि विग्रहहारिणम् ।
प्रमोदजाततारेन श्रेयस्कर महाहकम् ॥ १२।४१–४२

इस कोटि के पद्य कवि के पाण्डित्य, रचनाकौशल तथा भाषाधिकार को सूचित अवश्य करते हैं, किन्तु इनमे रसचर्वणा मे अवाञ्छनीय बाधा आती है। टीका के बिना इनका वास्तविक अर्थ समझना प्राय असम्भव है। सतोष यह है कि माघ, वस्तुपाल आदि की भाँति इन प्रहेलिकाओ का पूरे सर्ग मे सन्निवेश न करके कीर्त्तिराज ने अपने पाठको को बौद्धिक व्यायाम से बचा लिया है।

अलकारविधान

प्रकृति-चित्रण आदि के समान अलकारो के प्रयोग मे भी कीर्त्तिराज ने सुरुचि तथा सूझ-बूझ का परिचय दिया है। अलकार भावाभिव्यक्ति मे कितने सहायक हो सकते हैं, नेमिनाथमहाकाव्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

कीर्त्तिराज की इस सफलता का रहस्य यह है कि उसने अलकारो का सन्निवेश अपने ज्ञान-प्रदर्शन अथवा काव्य को अलकृत करने मात्र के लिये नही अपितु भावो को स्पष्टता एव सम्पन्नता प्रदान करने के लिये किया है। नेमिनाथ-महाकाव्य के अलकारो का सौन्दर्य इसके अप्रस्तुतो पर आधारित है। उपयुक्त अप्रस्तुतो का चयन कवि की पैनी दृष्टि, अनुभव, मानव प्रकृति के ज्ञान, सवेदनशीलता तथा सजगता पर निर्भर है। कीर्त्तिराज ने अप्रस्तुतो की खोज मे अपना जाल दूर-दूर तक फैका है और जीवन के विविध पक्षो से उपमान ग्रहण किये हैं। उसके अप्रस्तुत अधिकतर उपमा तथा उत्प्रेक्षा के रूप मे प्रकट हुए हैं। इनसे वर्णित भाव अथवा विषय किस प्रकार स्पष्ट तथा समृद्ध हुए है, इसके दिग्दर्शन के लिये कतिपय उदाहरण आवश्यक हैं।

प्रभु के दर्शन मे इन्द्र का क्रोध ऐसे शान्त हो गया जैसे अमृतपान से ज्वरपीडा और वर्षा मे दावाग्नि (५।१४)। जहाँ ज्वरार्ति और दावाग्नि देवराज के क्रोध की प्रचण्डता का बोध कराती हैं वहाँ अमृतपान तथा वर्षा उपमानो से उसके सहसा शान्त होने का भाव स्पष्ट हो गया है। शिशु नेमि के सावले शरीर पर अङ्गराग ऐसे शोभा देता था जैसे काले बादलो से भरे आकाश मे सान्ध्य राग (६।१८)। सुरो और असुरो के नेत्र अन्य विषयो को छोडकर जिनेन्द्र के रूप पर इस प्रकार पडे जैसे भौंरे कमलो पर गिरते हैं (६।२३)। नेमिप्रभु ने अपनी सुधा-शीतल वाणी से यादवो को इस प्रकार प्रबोध दिया जैसे चन्द्रमा कुमुदो को विकसित करता है (१०।३५)। कुमुदो को खिलते देखकर भली भाँति अनुमान किया जा सकता है कि यादवो को कैसे बोध मिला होगा! दो हिलती चवरियो के बीच प्रभु का मुख हसो के युगल के मध्य स्थित कमल के समान शोभित था (१२।२१)। प्रस्तुत उपमा बहुत उपयुक्त है। नेमि को अचानक वधूगृह से लौटते देखकर यादव उनके पीछे ऐसे दौडे जैसे व्याध से भीत हरिण यूथ के नेता के पीछे भागते हैं। त्रस्त हरिणो के उपमान से यादवो की चिन्ता, आकुलता आदि तुरन्त व्यक्त हो जाती हैं।

दृष्ट्वाथ नेमिं विनिवर्तमानं किमेतदित्याकुलं वदन्त ।
तमन्वधावन् स्वजना समस्तास्त्रस्ता कुरंगा इव यूथनाथम् ॥१०।३४

काव्य मे इस प्रकार की अनेक मार्मिक उपमाए दृष्टिगत होती हैं। भावाभिव्यक्ति के लिये कवि ने मूर्त तथा अमूर्त दोनो प्रकार के उपमानो का समान सफलता से प्रयोग किया है। नेमि के आदेश से सूत ने वधूगृह से रथ इस प्रकार मोड लिया जैसे योगी ज्ञान के बल से अपना मन बुरे विचार से हटा लेता है।

सूतो रथं स्वामिनिदेशतोऽथ निवर्तयामास विवाहगेहात् ।
यथा गुरुज्ञानबलेन मक्षु दुर्ध्यानतो योगिजनो मन स्वम् ॥१०।३३

यहां मूर्त रथ की तुलना अमूर्त मन से की गई है। निम्नाङ्कित पद्य मे कवि ने अमूर्त भाव की अभिव्यक्ति के लिए मूर्त उपमान का आश्रय लिया है। राजा ने जिस-जिस पर कृपा-दृष्टि डाली उसका हर्ष-लक्ष्मी ने ऐसे आलिंगन किया जैसे कामातुर युवती अपने प्रेमी का।

यं यं प्रसन्नेन्दुमुख स राजा विलोकयामास दृशा स्वभृत्यम् ।
शिश्लेष तं तं गुरुहर्षलक्ष्मी कामातुरेव प्रमदा स्वकान्तम् ॥३।६

उत्प्रेक्षा के प्रयोग मे भी कवि का यही कौशल दृष्टिगोचर होता है। भावपूर्ण सटीक अप्रस्तुतो से कवि के वर्णन चमत्कृत हो उठे हैं। छठे सर्ग मे देवागनाओ के तथा नवे सर्ग मे राजीमती के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसङ्ग मे अनेक अनूठी उत्प्रेक्षाओ का प्रयोग हुआ है। देवागनाओ की पुष्ट जघनस्थली ऐसी लगती थी मानो कामदेव की आसनगद्दी हो। (६।४७) आसनगद्दी अप्रस्तुत से जघनस्थली की स्थूलता तथा विस्तार का भान सहज ही हो जाता है। शरत्काल मे भौरो से युक्त कमल ऐसे शोभित हुए मानो शरत् के सौंदर्य को देखने के लिये जलदेवियो ने अपने नेत्र उघाडे हो (८।४१)। राजीमती के स्तन ऐसे लगते थे मानो उसके वक्ष को फोडकर निकले हुए काम के दो कन्द हो (६।५४)। उसकी जघाए कामगज के आलान (बन्धन स्तम्भ) प्रतीत होते थे (६।५५)। आलान मे उसकी जङ्घाओ की वशीकरण क्षमता स्पष्ट

द्योतित होती है । प्रस्तुत पद्य मे वायु से हिलते कमल मे 'नायिका के मुख से भय' की सम्भावना करने से उत्प्रेक्षा की भावपूर्ण अवतारणा हुई है ।

पवमानचचलदल जलाशये रवितेजसा स्फुटदिव पयोरुहम् ।
परिशक्ष्यते वत मया तवाननात् कमलाक्षि ! बिभ्यदिव कम्पतेतराम् ॥२।१६

प्रभात का निम्नोक्त वर्णन रूपक का परिधान पहन कर आया है। यहाँ रात्रि, तिमिर, दिशाओ तथा किरणो पर क्रमश स्त्री, अजन, पुत्री तथा जल का आरोप किया गया है ।

रात्रिस्त्रिया मुग्धतया तमोऽजनैर्दिग्धानि काष्ठातनयामुखान्यथ ।
प्रक्षालयत्पूषमयूखपाथसा देव्या विभात ददृशे स्वतातवत् ॥२।३०

कृष्ण पत्नियाँ नेमिनाथ को जिन युक्तियो से वैवाहिक जीवन मे प्रवृत्त करने का प्रयास करती हैं, उनमे से एक मे दृष्टान्त की सुन्दर योजना हुई है ।

कि च पित्रो सुखायैव प्रवर्तन्ते सुनन्दना ।
सदा सिन्धो प्रमोदाय चन्द्रो व्योमावगाहते ॥६।३४

शरद्वर्णन मे मदमत्त वृषभ के आचरण की पुष्टि सामान्य उक्ति से करते हुए अर्थान्तरन्यास का प्रयोग किया गया है ।

मदोत्कटा विदार्य भूतल वृषा क्षिपन्ति यत्र मस्तके रजो निजे ।
अयुक्त-युक्त-कृत्य-संविचारणां विदन्ति कि कदा मदान्धबुद्धय ॥३।४४

शिशु नेमिनाथ के स्नात्रोत्सव के निम्नोक्त पद्य मे कारण तथा कार्य के भिन्न-भिन्न स्थानो पर होने के कारण असगति अलङ्कार है ।

गन्धसार-घनसार-विलेप कन्यका विदधिरेऽथ तदगे ।
कौतुक महदिद यदमूषामप्यनश्यदखिलो खलु ताप ॥४।४४

समुद्र विजय के शौर्यवर्णन के अन्तर्गत प्रस्तुत पक्तियो मे शत्रुओ के वध का प्रकारान्तर मे निरूपण किया गया है । अत. यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार है ।

रणरात्रौ महीनाथ चन्द्रहासो विलोक्यते ।
वियुज्यते स्वकांताभ्यश्चक्रवाकैरिवारिभि ॥७ २७

जिनेश्वर की लोकोत्तर विलक्षणता का चित्रण करते समय कवि की कल्पना अतिशयोक्ति के रूप मे प्रकट हुई है ।

यद्यर्कदुग्धं शुचिगोरसस्य प्राप्नोति साम्य च विष सुधाया ।
देवान्तर देव ! तदा त्वदीया तुल्या दधाति त्रिजगत्प्रदीप ॥६।३१

समुद्रविजय की राजधानी सूर्यपुर के वर्णन मे कवि ने परिसख्या का भी आश्रय लिया है ।

न मन्दोऽत्र जन कोऽपि पर मदो यदि ग्रह ।
वियोगो नापि दम्पत्योर्वियोगस्तु पर वने ॥१।१७

शब्दालङ्कारो मे अनुप्रास तथा यमक के प्रति कवि का विशेष मोह है । नेमिनाथकाव्य मे इनका स्वर, किसी-न-किसी रूप मे, सर्वत्र ध्वनित रहता है । अन्त्यानुप्रास का एक रोचक उदाहरण देखिये ।

जगज्जनानदथुभदहेतुर्जगत्त्रयक्लेशसेतु ।
जगत्प्रभुर्यादववशकेतुर्जगत्पुनाति स्म स कम्बुकेतु ॥३।३७

यमक के प्राय सभी भेद काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं । पादकयमक तथा महायमक का दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है । इन्हे छोडकर कीर्त्तिराज ने यमक की ऐसी विवेकपूर्ण योजना की है कि उसमे क्लिष्टता नही आने पाई । आदियम्क प्रस्तुत पद्य की शृगारमाधुरी को वृद्धिगत करने मे सहायक बना है ।

वनितयानितया रमणं कयाप्यमलया मलयाचलमारुत ।
धुतलतासल-तामरसोऽधिको नहि मतो हिमतो विषतोऽपि न । ८।२१

ऋतु वर्णन वाला अष्टम सर्ग आद्यन्त यमक से भरपूर है ।

समुद्रविजय तथा शिवा के इस वार्तालाप मे वृषभ, गो, वृपाक तथा शङ्कर की भिन्नार्थ मे योजना करने से वक्रोक्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

देव प्रिये ! को वृषभोऽयि ! किं गौ । नैव वृषाङ्क । किमु शङ्करो, न ।
जिनो नु चक्रीति वधूवराभ्या यो वक्रमुक्त स मुदे जिनेन्द्र ॥२।१२

इनके अतिरिक्त सन्देह, विरोधाभास, विषम, व्यतिरेक, विभावना, निदर्शना, सहोक्ति, विषम आदि अलङ्कार भी नेमिनाथकाव्य के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।

छन्दयोजना

भावव्यजक छन्दो के प्रयोग मे कीर्त्तिराज पूर्ण सिद्धहस्त हैं। उनके काव्य मे अनेक छन्दो की योजना की गयी है। प्रथम, सप्तम तथा नवम सर्ग मे अनुष्टुप् की प्रधानता है। प्रथम सर्ग के अन्तिम दो पद्य मालिनी तथा उपजाति मे हैं, सप्तम सर्ग के अन्त मे मालिनी का प्रयोग हुआ है और नवम सर्ग का पैंतालीसवाँ तथा अन्तिम पद्य-क्रमश उपगीति तथा नन्दिनी मे निबद्ध हैं। ग्यारहवे सर्ग मे वैतालीय छन्द अपनाया गया है। सर्गान्त मे उपजाति और मन्दाक्रान्ता का उपयोग किया गया है। तृतीय सर्ग की रचना उपजाति मे हुई है। अन्तिम दो पद्यो मे मालिनी का प्रयोग हुआ है। शेष सात सर्गों मे कवि ने नाना वृत्तो के प्रयोग से अपना छन्दज्ञान प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। द्वितीय सर्ग-मे उपजाति (वशस्थ + इन्द्रवशा), इन्द्रवशा, वशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा)' वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित तथा शालिनी, इन आठ छन्दो को प्रयुक्त किया गया है। चतुर्थ सर्ग की रचना नौ छन्दो मे हुई है। इसमे अनुष्टुप् का प्राधान्य है। अन्य आठ छन्दो के नाम हैं—द्रुतविलम्बित, उपजाति (इन्द्रवज्रा+उपेन्द्रवज्रा), इन्द्रवज्रा, स्वागता, रथोद्धता, इन्द्रवशा, उपजाति (इन्द्रवशा+वशस्थ) तथा शालिनी। पचम सर्ग मे सात छन्दो को अपनाया गया है—उपजाति (इन्द्रवज्रा+उपेन्द्रवज्रा), इन्द्रवज्रा, वशस्थ, वसन्ततिलका, प्रमिताक्षरा, रथोद्धता तथा शार्दूलविक्रीडित। छठे सर्ग मे पाच छन्द दृष्टिगोचर होते है। इनमे उपजाति प्रमुख है। शेष चार छन्द है—उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित तथा मालिनी।

अष्टम सर्ग मे प्रयुक्त छन्दो की सख्या ग्यारह है। उनके नाम इस प्रकार हैं— द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा, विभावरी, उपजाति (वशस्थ+इन्द्रवशा), स्वागता, वैतालीय, नन्दिनी, तोटक, शालिनी, स्रग्धरा तथा औपच्छन्दसिक। इस सर्ग मे नाना छन्दो का प्रयोग ऋतु-परिवर्तन से उदित विविध भावो को व्यक्त करने मे पूर्णतया सक्षम है। बारहवें सर्ग मे भी ग्यारह छन्द प्रयोग मे लाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—नन्दिनी, उपजाति (इन्द्रवशा+वशस्थ), उपजाति (इन्द्रवज्रा+उपेन्द्रवज्रा), रथोद्धता, वियोगिनी, द्रुतविलम्बित, उपेन्द्रवज्रा, अनुष्टुप्, मालिनी, मन्दाक्रान्ता तथा आर्या। दसवे सर्ग की रचना मे जिन चार छन्दो का आश्रय लिया गया है, वे इस प्रकार हैं—उपजाति (इन्द्रवज्रा+उपेन्द्रवज्रा), शार्दूलविक्रीडित, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा। सब मिलाकर नेमिनाथमहाकाव्य मे २५ छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमे उपजाति का प्रयोग सबसे अधिक है।

नेमिनाथमहाकाव्य की रचना कालिदास की परम्परा मे हुई है। धार्मिक कथानक चुनकर भी कीर्त्तिराज अपनी कवित्व शक्ति, सुरुचि तथा सन्तुलित दृष्टिकोण के कारण साहित्य को एक ऐसा रोचक महाकाव्य दे सके है, जिसकी गणना सस्कृत के उत्तम काव्यो मे की जा सकती है।

नेमिनाथमहाकाव्य और नेमिनिर्वाण—

जैन साहित्य मे तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवनवृत्त के दो मुख्य स्रोत है—जिनसेन प्रथम का हरिवशपुराण (७८३ ई०) तथा गुणभद्र का उत्तर-पुराण (८९७ ई०)। इन उपजीव्य ग्रन्थो मे नेमिचरित की प्रमुख रेखाओ के आधार पर, भिन्न-भिन्न शैली मे, उनके जीवन-चित्र का निर्माण किया गया है। हरिवश पुराण में यह प्रकरण बहुत विस्तृत है। जिनसेन ने नौ विशाल सर्गों मे जिनेन्द्र के सम्पूर्ण चरित का मनोयोगपूर्वक निरूपण किया है। कवि की धीर-गम्भीर शैली, अलकृत एवं प्रौढ भाषा तथा समर्थ कल्पना के कारण यह पौराणिक प्रसग महाकाव्य का आभास देता है और उसकी भाँति तीव्र रसवत्ता का आस्वादन कराता है। उत्तरपुराण मे नेमिचरित का सरसरा-सा वर्णन है।

जिस प्रकार गुणभद्र ने उसका प्रतिपादन किया है, उससे नेमिप्रभु का विवाह और प्रव्रज्या श्रीकृष्ण के कपटपूर्ण षड्यन्त्र के परिणाम प्रतीत होते हैं। माधव नेमि से अपना राज्य सुरक्षित रखने के लिये पहले विवाह द्वारा उनका तेज जर्जर करने का प्रयत्न करते हैं और फिर वन्य पशुओ के हृदयद्रावक चीत्कार से उनके वैराग्य को उभार कर उन्हें ससार से विरक्त कर देते हैं (७१।१४३-१४४,१५३-१६८)।

नेमिप्रभु के चरित के आधार पर जैन-सस्कृत-साहित्य मे दो महाकाव्यो की रचना हुई है। कीर्त्तिराज के प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त वाग्भट का नेमिनिर्वाण (१२ वी शताब्दी ई०) इस विषय पर आधारित एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है। दोनो काव्यो मे प्रमुख घटनाएँ समान है, किन्तु उनके अलकरण तथा प्रस्तुतीकरण मे बहुत अन्तर है। वाग्भट ने कथावस्तु के स्वरूप और पल्लवन मे बहुधा हरिवशपुराण का अनुगमन किया है। हरिवशपुराण के समान यहाँ भी जिन-जन्म से पूर्व समुद्रविजय के भवन मे रत्नो की वृष्टि होती है, शिवा के गर्भ मे जयन्त का अवतरण होता है और वह परम्परागत स्वप्न देखती है। दोनो मे स्वप्नो की सख्या (१६) तथा क्रम समान हैं। नेमिनिर्वाण मे वर्णित शिशु नेमि के जन्माभिषेक के लिये देवताओ का आगमन, नेमिप्रभु की पूर्वभवावलि, तपश्चर्या, केवलज्ञानप्राप्ति, धर्मोपदेश तथा निर्वाणप्राप्ति आदि घटनाएँ भी जिनसेन के विवरण पर आधारित हैं। किन्तु नेमिचरित का एक प्रसग ऐसा है, जिसमे वाग्भट तथा कीर्त्तिराज दोनो ने परम्परागत कथारूप मे नयी उद्भावना की है। पौराणिक स्रोतो के अनुसार श्रीकृष्ण यह जान कर कि मेरी पत्नियो के साथ जलविहार करते समय नेमिकुमार के हृदय मे काम का प्रथम अंकुर फूट चुका है, उनका सम्बन्ध भोजसुता राजीमती से निश्चित कर देते है। किन्तु नेमि भावी हिंसा से द्रवित होकर विवाह को अधर मे छोड़ देते हैं और परमार्थसिद्धि की भावना मे लीन हो जाते हैं (हरिवशपुराण ५५।७१-७२,८८-१००, उत्तरपुराण ७१।१४३-१७०)। नेमिनाथ वीतराग होकर भी अपनी मातृतुल्य भाभी पर अनुरक्त हो, यह क्षुद्र आचरण उनके लिये असम्भाव्य है। इस विसगति को दूर करने के लिये वाग्भट

ने प्रस्तुत सन्दर्भ को नया रूप दिया है, जो पौराणिक प्रसग की अपेक्षा अधिक सगत है। उनके काव्य मे (११।१-१०) स्वय राजीमती रैवतकपर्वत पर युवा नेमिकुमार को देख कर उनके रूप पर मोहित हो जाती है और उसमे पूर्वराग का उदय होता है। इधर श्रीकृष्ण नेमिकुमार के माता-पिता के अनुरोध पर ही उग्रसेन से विवाह-प्रस्ताव करते है। कीर्त्तिराज इस परिवर्तन से भी सन्तुष्ट नही हुए। उन्हें राजीमती-जैसी सती का साधारण नायिका की भांति नायक को देखकर कामाकुल होना औचित्यपूर्ण प्रतीत नही होता। फलत नेमिनाथमहाकाव्य मे कृष्ण-पत्नियाँ विविध तर्कों तथा प्रलोभनो से नेमि को कामोन्मुख करने की चेष्टा करती हैं। उनके विफल होने पर माता शिवा उन्हें विवाह के लिये प्रेरित करती हैं, जिनके आग्रह को नेमिनाथ, निस्स्पृह होते हुए भी, अस्वीकार नही कर सके (६।४-४१)। नेमि की स्वीकृति से ही उनके विवाह का प्रबन्ध करना निस्सन्देह अधिक विचारपूर्ण तथा उनके उदात्त चरित्र की गरिमा के अनुकूल है। इससे राजीमती के शील पर भी आँच नही आती। कीर्त्तिराज ने प्रस्तुत सन्दर्भ के गठन मे अवश्य ही अधिक कौशल का परिचय दिया है।

कथानक के गठन पर विचार करते हुए सकेत किया गया है कि नेमिनाथमहाकाव्य की कथावस्तु अधिक विस्तृत नही है, किन्तु कवि की अलकारी वृत्ति ने इसे सजा-सवार कर बारह सर्गो का विस्तार दिया है। नेमिनिर्वाण काव्य में मूल कथा से सम्बन्धित घटनाएँ और भी कम हैं। सब मिला कर भी इसका कथानक नेमिनाथकाव्य की अपेक्षा छोटा माना जाएगा। पर वाग्भट ने उसमे एक ओर वस्तु-व्यापार के परम्परागत वर्णन ठूंस कर और दूसरी ओर पुराणवर्णित पूर्वभवावलि, तपश्चर्या, देशना आदि को अनावश्यक महत्त्व देकर उसे पन्द्रह सर्गों की विशाल काया प्रदान की है। ऐसा करके वे अपने स्रोत तथा महाकाव्य के बाह्य रूप के प्रति भले ही अधिक निष्ठावान् रहे हो, परन्तु सन्तुलन तथा स्वाभाविकता से दूर भटक गये हैं। वीतराग तीर्थंकर के जीवन से सम्बन्धित रचना में, पूरे छह सर्गों मे, कुसुमावचय, जलक्रीडा, चन्द्रोदय, मधुपान आदि के शृ गारी वर्णनो की क्या सार्थकता है? इसी पर-

वशता के कारण कवि को इस शान्तपर्यवसायी काव्य मे पानगोष्ठी और रतिक्रीडा का रगीला चित्रण करने मे भी कोई वैचित्र्य नही दिखाई देता। काव्य-रूढियो का समावेश कीर्त्तिराज ने भी किया है, किन्तु उसने विवेक तथा सयम से काम लिया है। उसने मूल कथा से असम्बद्ध तथा अनावश्यक पूर्व-परिगणित प्रसगो की तो पूर्ण उपेक्षा की है, नायक के पूर्वजन्म के वर्णन को भी काव्य मे स्थान नही दिया है। उनके तप, समवसरण तथा धर्मोपदेश का भी चलता-सा उल्लेख किया है जिससे कथानक नेमिनिर्वाण-जैसे विस्तृत वर्णनो से मुक्त रहता है। अन्यत्र भी कीर्त्तिराज के वर्णन सन्तुलन की परिधि का उल्लघन नही करते। जहाँ वाग्भट ने तृतीय सर्ग मे प्रात.काल का वर्णन करके, अन्त मे, जयन्त देव के शिवा के गर्भ मे प्रवेश का केवल एक पद्य में उल्लेख किया है, वहाँ कीर्त्तिराज ने नेमिनिर्वाण के अप्सराओ के आगमन के प्रसग को छोड कर उसके द्वितीय तथा तृतीय सर्गों मे वर्णित स्वप्नदर्शन तथा प्रभात-वर्णन का केवल एक सर्ग मे समाहार किया है। इसी प्रकार वाग्भट ने वसन्त-वर्णन पर पूरा एक सर्ग व्यय किया है जबकि कीर्त्तिराज ने अकेले आठवें सर्ग का उपयोग छहों ऋतुओ का रोचक चित्रण करने मे किया है। नेमिनाथमहाकाव्य का विवाह-प्रसग वाग्भट से अधिक स्वाभाविक तथा विचारपूर्ण है, यह पहले कहा जा चुका है। कीर्त्तिराज मार्मिक प्रसगो की सृष्टि करने मे निपुण हैं। नेमिनाथ के प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् ग्यारहवे सर्ग मे, राजीमती के करुण विलाप के द्वारा कवि ने जहाँ उसके तप्त हृदय के उद्‌गारो की अभिव्यक्ति की है, वहाँ अपने मनोविज्ञान-कौशल का भी परिचय दिया है। वाग्भट ने यहाँ मौन साध कर एक ऐसा हृदय-स्पर्शी प्रसग हाथ से गवा दिया है, जिससे उसके काव्य की मार्मिकता में निस्सन्देह वृद्धि होती। परित्यक्ता नारी, चाहे वह कितनी भी गम्भीर तथा सहनशील हो बिल्कुल ही होठ सी ले, यह कैसे सम्भव है ? बारहवे सर्ग मे कीर्त्तिराज ने चित्रकाव्य मे अपने रचना-कौशल का प्रदर्शन किया है तो नेमिनिर्वाण का रैवतकवर्णन उसी प्रवृत्ति का द्योतक है। नेमिनाथमहाकाव्य मे वस्तुव्यापार-वर्णनो के

अतिरिक्त जो अन्य वर्णन हैं, वे कथानक से अधिक दूर नहीं हैं जबकि वाग्भट के बहुत-से वर्णनो का कथानक मे कोई सम्बन्ध नही है।

नेमिनिर्वाण तथा नेमिनाथमहाकाव्य दोनो ही संस्कृत-महाकाव्य के ह्रासकाल की रचनाएँ हैं। उस युग के अन्य अधिकाश महाकाव्यो की तरह इनमे भी वे प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं, जिनका प्रवर्तन भारवि ने किया था और जिन्हे विकसित कर माघ ने साहित्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। वाग्भट पर यह प्रभाव भरपूर पडा है, कीर्तिराज अपने लिये एक समन्वित मार्ग निकालने मे सफल हुए हैं। नेमिनिर्वाण मे पूर्वोक्त शृगारिक प्रसगो का सन्निवेश तथा वस्तुव्यापार के अलकृत वर्णन माघ के अतिशय प्रभाव का परिणाम है। माघ का प्रभाव वाग्भट की वर्णन-शैली पर भी पडा है। उनके वर्णन माघ की तरह ही कृत्रिम तथा दूरारूढ कल्पना से आक्रान्त हैं। वाग्भट और कीर्तिराज की कविता मे क्या अन्तर है, इसका दिग्दर्शन तो तुलनात्मक रीति से ही सम्भव है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि कीर्तिराज के वर्णन स्वाभाविकता से परिपूर्ण हैं, कम-से-कम वे अधिक अलकृत नही हैं, किन्तु वाग्भट ने अपने वर्णनो मे बहुत दूर की कौडी फेंकी है। कतिपय उदाहरण अप्रासगिक न होंगे।

भोर के समय चन्द्रमा की आभा मन्द पड जाती है, कुमुदिनी मुरझा जाती है किन्तु चकवे आनन्दविभोर हो उठते हैं। कीर्तिराज ने इस प्रात-कालीन दृश्य का सीधा-सादा वर्णन किया है, किन्तु वाग्भट की कल्पना है कि चाँद ने रात-भर कुमुदो के पात्रो मे मदिरा-पान किया है जिससे वह नशे मे चूर हो गया है और बेहोशी मे नगा होकर धडाम से अस्ताचल पर गिर पडा है।

मन्ये मधूनि निशि कैरवपात्रे पीतानि शीतरुचिना करनालयन्त्रे ।
नो चेत्कथं पतति निर्गलिताशुकोऽयं कोकै सहर्षनिनदैरिव हस्यमान ॥(ने नि.३।४)

नवोदित सूर्य की किरणें कुमुदिनियो पर फैली हुई ऐसी प्रतीत होती हैं मानो प्राणप्रिय चन्द्रमा के विछोह की वेदना से फटे उनके हृदय से बहती रुधिर की धाराएँ हो।

तेजो जपाकुसुमकान्ति कुमुद्वतीषु विद्योतते निपतित नवभानवीयम् ।
भर्तु कलाकुलगृहस्य वियोगदु खैनिर्दारितादिव हृदो रुधिरप्रवाहः ॥
(ने. नि ३।१३)

मेरु की नदियां कहां से निकलती हैं ? कवि का विश्वास है कि निकटवर्ती सूर्य की गर्मी के कारण मेरु का शरीर पसीने से तर हो गया है। पसीने की वे धाराएं ही नदियो के रूप मे परिणत होकर बह निकली हैं ।

अजस्रमासन्नसहस्रदीधितिप्रतापसपादितखेदजन्मभिः ।
विसारिभि स्वेदजलैरिवोज्ज्वलैर्विराजमानावयव नदीशतै ।।(ने नि ५।१७)

स्वर्ण-पर्वत पर एक ओर सफेद बादल सटे हुए हैं, दूसरी ओर काली घटाएं। कवि को लगता है कि शकर तथा विष्णु ने एक-साथ ब्रह्मा को आलिगन मे बांध लिया है ।

पयोधरैरञ्चितमेकत सितै सितेतरै काञ्चनकायमन्यत ।
पितामह धूर्जटिकैटभाहितप्रदत्तासश्लेषमिवैकहेलया ।। (ने नि ५।१८)

सूर्य के अस्त होने पर तारों के प्रकट होने का रहस्य यह है कि सूर्य अस्ताचल की चोटी पर चढ कर जब पश्चिम-पयोधि मे छलाग लगाता है तो जलकण उछल कर तारो के रूप मे आकाश मे फैल जाते हैं ।

अपरावनीधरतटात्पयोनिधौ पतत सतो झगिति झम्पया रवे ।
व्यरुचन्समुच्छलदतुच्छपायसामिव बिन्दवो गगनसीम्नि तारका. । (ने नि ६।१३)

कीर्त्तिराज की कविता का सागोपाग मूल्याकन पहले किया जा चुका है। दोनो की तुलना करने पर ज्ञात होगा कि वाग्भट की प्रवृत्ति अलकरण की ओर अधिक है। कीर्त्तिराज के काव्य मे सहजता है, जो काव्य की विभूति है और कीर्त्तिराज की श्रेष्ठता की द्योतक भी। कवित्व-शक्ति की दृष्टि से दोनों में शायद अधिक अन्तर नही। खेद यह है कि आधारभूत हरिवशपुराण के प्रति बद्धता के कारण वाग्भट ने पुराण-वर्णित प्रसगो को अधिक महत्त्व दिया है जिससे उसके काव्य मे प्रचारात्मक स्वर अधिक मुखरित है ।

सत्यव्रत

कीर्त्तिराजोपाध्यायप्रणीतं

नेमिनाथ-महाकाव्यम्

प्रथमः सर्गः

वन्दे तन्नेमिनाथस्य पदद्वन्द्व श्रियां पदम् ।
नाथैरसेवि देवाना यद् भृ गैरिव पङ्कजम् ॥१॥
क्रूरग्रहैरनाक्रान्ता सदा सर्वकलान्विता ।
चिरमत्र विजेपीरन् गुरवो नूतनेन्दव ॥२॥
नानाश्लेपरसप्रोढा हित्वा कान्ता मुनीश्वरा ।
ये चाहुस्ताद्दृशी वाच वन्दनीया. कथ न ते ॥३॥
यो दोपाकरमात्मान स्थापयन् विशदोऽपि सन् ।
विशदीकुरुते विश्व तस्मै सभ्येन्दवे नम ॥४॥
खल खल इवासार. पशुकल्पश्च नीरस ।
त्यज्यते दूरत प्राज्ञैः काक्षद्भि सौख्यमात्मन ॥५॥
शास्त्रारम्भे नमस्कार्यावार्यानार्यावुभावपि ।
एतद्द्वितययोगे हि गुणागुणविवेचनम् ॥६॥
क्व श्रीनेमिजिनस्तोत्र क्व कुण्ठेय मतिर्मम ।
उत्पाटयितुमिच्छामि तर्जन्या मोहतो गिरिम् ॥७॥
पर प्राज्ञति मन्दोऽपि गुरुदेवप्रसादत. ।
शिक्षितो हि शुको जल्पेदपि तिर्यङ् नृभाषया ॥८॥
जडात्मक प्रभोर्भक्तिर्मामुल्लापयतीह वा ।
सशब्दाम्भोदमालेव बलादपि कलापिनम् ॥९॥

लोकनाभ्या मध्यभागे जम्बूद्वीपोऽस्ति[1] विश्रुतः ।
गम्भीरो वर्तुलाकारो नाभिदेश इव स्त्रियाः ॥१०॥

यः षड्वर्षधरश्चित्रमनादिनिधनोऽपि सन् ।
लक्षयोजनमानोऽपि निःसंख्यैर्योजनैः श्रितः ॥११॥

पार्श्वतः सर्वतो यस्तु लवणोदधिनावृतः ।
आलीढः परिवेषेण वृत्तश्चन्द्र इवावभौ ॥१२॥

तत्रास्ति भारतं वर्षं कोदण्डाकारधारकम् ।
स्वश्रियां गर्वतः शंके लीलया वक्रता गतम् ॥१३॥

वैताढ्येन द्विधाभक्तं राजतेन रराज यत् ।
सीमन्तकेन काम्येन यथा सीमन्तिनीशिरः ॥१४॥

गङ्गा-सिन्धुनदीयोगात् षट्खण्डं यदजायत ।
सम्प्राप्तप्रसराभिस्तु को वा स्त्रीभिर्न खण्डितः ॥१५॥

तत्रासीत् परमश्रीकं नाम्ना सूर्यपुरं पुरम् ।
सर्वस्वमिव मेदिन्याः स्वभर्तेव कुलस्त्रियाः ॥१६॥

न मन्दोऽपि जनः कोऽपि परं मन्दो यदि ग्रहः ।
वियोगो नापि दम्पत्योर्वियोगस्तु परं वने ॥१७॥

वधोऽन्तरगशत्रूणां यत्रान्येषामसम्भवात् ।
न्यायवद्भूपतेर्भावादुदयो धर्मचारिणाम् ॥१८॥

मन्दाक्षसवृतांगोऽपि न मन्दाक्षकुरूपभाक् ।
सदापीडोऽपि यत्रासीद् विपीडो मानिनीजनः ॥१९॥

रत्नश्रेणिचिता यत्र पाण्डुरा दधिपिण्डतः ।
आवासाः श्रीमतां रेजुर्हिमाद्रेर्दारका इव ॥२०॥

---

१. यशो. मा. जम्बूद्वीपोऽस्ति

मुजङ्गसङ्गनिर्विण्णा वक्ष स्खलितकञ्चुका ।
दृष्ट्यैव[2] घूर्णयन्त्यत्र सर्पिणीवत्पणागना ॥२१॥

यत्र यूनां परीरम्भात् त्रुट्यद्धारा[3]वधूजना. ।
स्मरं वर्द्धापयन्तीवोच्छलद्भिर्मौक्तिकाक्षतै ॥२२॥

पावन यौवन यूना यत्र क्षेत्रमिवाशुभत् ।
वहुधान्योपकृच्चारु-वल्लभारागकारणम् ॥२३॥

भोगि-पुण्यजन-श्रीदै श्रितत्वाद्यत्पर पुरम् ।
भोगवत्यलकालङ्कासन्निपात इवाभवत् ॥२४॥

युवानो खलवद्यत्र नार्यालिङ्गनलालसा ।
दूषयन्ति कलाकेलीमुपमातीतविग्रहै.[4] ॥२५॥

किंकिणीनाददम्भेन पुण्ये नृन् प्रेरयन्निव ।
यत्राभितश्चलत्युच्चैर्विहाराणा ध्वजव्रज ॥२६॥

राराजीत्यापणश्रेणिराराजद्वारगोपुरम् ।
नानावस्तूनि विभ्राणा नानानन्दितनागरा ॥२७॥

दलैरविन्दवैर्दृब्धा हिमपिण्डमया इव ।
प्रासादा भ्रेजिरे राज्ञा यत्र स्फाटिकभित्तय. ॥२८॥

गम्भीरा बन्धुराकारा जललावण्यपूरिता. ।
वाप्यश्चकासिरे यत्र कान्तानामिव नाभय ॥२९॥

विचित्रोपलविच्छित्तिर्वर्तुलाकारसस्थिति ।
प्राकारो रुरुचे यस्य भूदेव्या इव कुण्डलम् ॥ ३० ॥

कोमलाग्यो लताकान्ता प्रवृत्ता यस्य कानने ।
पुष्पवत्योऽप्यहो चित्र तरुणालिगन व्यधु. ॥ ३१ ॥

---

२ यशो मा. दृष्ट्वैव ३ यशो मा. त्रुटद्वारा ४. महि केलि

दरिद्रै शीतला रात्रिर्दु खेन त्याज्यतेऽम्बरम् ।
नवोढा तरुणैर्यत्र दु खेन त्याज्यतेऽम्बरम् ॥ ३२ ॥

समुद्रदयिता भाति गणिकेव यदन्तिके ।
भुजगात्तरसास्वादा वेणीमोहितनागरा ॥ ३३ ॥

सा कापि रम्य-हर्म्यश्री शोभा वप्रस्य कापि सा ।
पुरस्य तस्य या वीक्ष्य क कम्पयति नो शिर [५] ॥ ३४ ॥

यथार्थाख्योऽभवत्तत्र समुद्रविजयो नृप ।
आसमुद्रं यतो वैरिविजयोऽनेन निर्ममे ॥ ३५ ॥

यो विद्विषा श्रिया सार्धं जग्राह पितुरासनम् ।
जहार चार्थिनां दौस्थ्य पौरुषेण सह विद्विषाम् ॥ ३६ ॥

वाणभापितगोभर्त्ता यो वशोप्सितदर्शन ।
रगकुशलताहारी चण्डषण्ड इवावभौ ॥ ३७ ॥

यमन्यराजराज्येभ्य [६] प्रतिजग्मु श्रियोऽखिला ।
प्रस्तावे पितृसद्मभ्यो भर्तारमिव कन्यका ॥ ३८ ॥

विभूतिसदृशी शक्ति शक्तेरनुगुणा क्रिया ।
क्रियया [७] सदृशी ख्याति ख्यातेरनुगुण यश ॥ ३९ ॥

यशसा सदृग रूप रूपेण सदृश वय ।
परं वयोऽधिका वृद्धिरेतस्य समजायत ॥ ४० ॥

प्रतिपक्षै सपक्षैश्च दुष्प्रेक्ष्य. प्रेक्ष्य एव स ।
कौशिकैश्चक्रवाकैश्च चण्डरोचिरिवाभवत् ॥ ४१ ॥

---

५. वि. मा, यशो मा न कम्पयति क शिर

६. वि. मा, यशो मा यमन्य राजराजेभ्य

७ महि., वि. मा क्रियाया.

प्राणेभ्योऽपि धनेभ्योऽपि योषिद्भ्योऽप्यधिक प्रियम् ।
सोऽमस्त मेदिनीजानिर्विशुद्ध धर्ममार्हतम् ॥ ४२ ॥

क्लीवत्व केवला क्षान्तिश्चण्डत्वमविवेकिता ।
द्वाभ्यामत समेताभ्या सोऽर्थसिद्धिममस्त ॥ ४३ ॥

काले वर्षति पर्जन्य सूते रत्नानि मेदिनी ।
प्रजाश्चिराय जीवन्ति तस्मिन् भुञ्जति भूतलम् ॥४४॥

न कार्पण्यात् पर स्थित्यै सोऽकार्षीद् धनसञ्चयम् ।
आकाराय ललौ लोकाद् भागधेय न तृष्णया ॥४५॥

गोगोप्तृत्वात्[८] सुपर्वत्वाद् वधात्परबलस्य च ।
स्वामित्वाज्जयवाहिन्या स देवेन्द्रतुला दधौ ॥ ४६ ॥

न्यायबुद्धिमतोऽमात्यानन्नर्वाणिशिरोमणीन् ।
स सजग्राह भूभर्त्ता विनेयानिव सद्गुरु ॥ ४७ ॥

स एकोऽपि जगज्जेता सेनालीढ किमुच्यते ।
केवलोऽपि बली सिह किं पुनर्व्यूढकक्कट ॥ ४८ ॥

तीव्ररश्माविवोद्दण्डे भूपेऽस्मिन्नु दिते सति ।
निस्तेजा ग्रहमालेव परास्थद् राजमण्डली ॥ ४६ ॥

तस्य नीतिमतो राज्ये विवाहे करपीडनम् ।
न पुन पौरलोकेषु सजात करपीडनम् ॥ ५० ॥

त्रिवर्गसाधने सैष परस्परमबाधया ।
प्रावृतस्त्रिजगत्सृष्टिविधौ कमलभूरिव ॥ ५१ ॥

वज्रदण्डायते सोऽय प्रत्यनीकमहीभुजाम् ।
कल्पद्रुमायते काम पादद्वन्द्वोपजीविनाम् ॥ ५२ ॥

---

८ महि, वि मा गोप्तृत्वाच्च

भूप स एव दक्षोऽभून्न्यायान्यायविचारणे ।
नीरक्षीरविवेके[१] हि हस एव प्रशस्यते ॥ ५३ ॥

समृद्धमभजद्राज्य ससमस्त-नयामलम् ।
कामीव कामिनीकाय ससम-स्तन-यामलम् ॥ ५४ ॥

रूपलावण्यसम्पन्ना शिवादेवीति नामत ।
जयश्रीरिव मूर्तास्य बभूव सहचारिणी ॥ ५५ ॥

लेभे सतीषु या रेखा धीषु पण्डा मतिर्यथा ।
पुरोगता कुलस्त्रीषु वच कला कलास्विव ॥ ५६ ॥

ययात्मीयैर्गुणग्रामै शारदेन्दुसहोदरै ।
पवित्रीक्रियते धात्री जलौघैरिव गङ्गया ॥ ५७ ॥

सुशीला सा महादेवी धर्मवान् स नराधिप ।
तयोर्योगेऽनुरूपेऽभूत् प्रयास सफलो विधे ॥ ५८ ॥

अन्यदा सा शिवादेवी सुखशय्यागता निशि ।
किंचित् स्वपिति जागर्ति प्रदोषे पद्मिनी यथा ॥ ५९ ॥

अस्मिन्नवसरे च्युत्वा विमानादपराजितात् ।
द्वाविंश श्रीजिनाधीशस्तस्या कुक्षाववातरत् ॥ ६० ॥

परिहृत-परजन्माहारकायप्रचार
सुचिरममरलोके दिव्यभोगाश्च भुक्त्वा ।
प्रकटितशुभयोगे कार्त्तिकस्याद्यपक्षे
प्रभुरवतरति स्म द्वादशीवासतेय्याम् ॥६१॥

उदारताराग्रहपूगपूर्णा नभ स्थलो तालतमालवर्णा ।
मुक्ताभृता शीतगुवल्लभाया रराज वैदूर्यकरण्डिकेव ॥६२॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये च्यवन-कल्याणकवर्णनो नाम प्रथम सर्ग ।

---

१ यशो मा क्षीरनीरविवेके

द्वितीय सर्गः

अथापतन्त करिण नभ स्थलात्पीनागमुच्च धवल झरन्मदम् ।
प्राप्तोपम निर्झरवारिधारिणा स्वप्ने शिवा प्रैक्षत सा हिमाद्रिणा ॥१॥

पीमं दधान ककुद समुन्नत नीहार-मुक्ता-हर-हस-पाण्डुरम् ।
सर्वांगपुष्ट वृषभ शुभाकृति व्यक्त समुत्कीर्णमिवेन्दुमण्डलात्[1] ॥२॥

पिशगवासा किमय नारायण. सुवर्णकाय किमय विहगम. ।
सविस्मय तर्कितमेवमादित सिह स्फुरत्काचनचारुकेसरम् ॥३॥

सस्नाप्यमाना[2] सुभमाकृति श्रिय श्च्योतद्रसौ पीनकुचौ च विभ्रतीम् ।
सुधाभुजामगभवार्तिशान्तये न्यस्तौ विधात्रेह सुधाघटाविव ॥४॥

पुष्पस्रज सौरभगौरवोज्ज्वला प्रलम्बरोलम्बकदम्बकाकुलाम् ।
करम्बितां गारुडरत्नभगिभिरिवावदातस्फटिकाक्षमालिकाम् ॥५॥

सुधामय वर्तुलचन्द्रमण्डल मध्यस्फुरच्छ्यामललक्षणेक्षणम् ।
चन्द्रोपल-स्थालमिवोल्लसत्पयो हरिन्मणोमण्डितमध्यमण्डलम्[3] ॥६॥

मातर्यथाह निधिरुग्रतेजसा भावी तथा ते तनयस्तमस्तुदाम् ।
इति प्रजलपन्तमिवाविदीवितिं दिवाकर व्योमतडागसारसम्[4] ॥७॥

इन्द्रध्वज कैरव-पासु-पाण्डुर वर्णैर्विभक्त कलकिंकिणीस्वरम् ।
देवावतारप्रमदादिवोच्चकैर्नृत्यन्तमल्पानिलधूतपल्लवैः ॥८॥

---

१. वि. मा, महि समुत्कीर्णमिवेन्दुमण्डलम् ।
२. वि. मा सस्नप्यमाना ।
३. वि. मा. , महि. हरिण्मणीमण्डितमध्यमण्डलम् ।
४. महि तटाक ।

मणीवकै सवलितै[५] शितच्छदै सशोभिकण्ठ कलश जलप्लुतम् ।
फणीन्द्रचूडामणिमण्डित[६]स्फटैर्व्याप्त सुधाकुण्डमिवामल लघु ॥९॥

सर. प्रफुल्लाम्बुजपण्डमण्डित पूर्ण समन्ततादतिशुद्धवारिणा ।
अगण्यकारुण्यरसेन पूरित मौनीश्वर चित्तमिव प्रसादयुक् ॥१०॥

अलब्धमध्योऽस्मि यथा जलैरह गुणैस्तथाय भविताभकोऽम्ब हे ।
इतीव ससूचयितु समुद्यत निधि जलाना लुलदूर्मिसकुलम् ॥११॥

मनुष्यवाग्गोचरतीतवर्णन स्फुरद्विमान कल-किकिणी-क्वणम् ।
तीर्थाधिनाथ किल सम्प्रहेठितु समागत क्षोणितलेऽपराजितम् ॥१२॥

कि तारकाणा बत सन्निपात, कि वा प्रदीप्रप्रभदीपराशि. ।
उत्पादयन्त मनसीति तर्क विचित्ररत्नोच्चयमिद्धरोकम् ॥१३॥

विकस्वरागारकणस्वरूप धूमध्वज धूसरधूममुक्तम् ।
विभ्राणमुष्माणमतीव तीक्ष्ण शोणाश्मना राशिमिवाधिकान्तिम् ॥१४॥

दशार्हपृथ्वीपतिपट्टराज्ञी स्वप्नान् प्रधानानधिगम्य सामून् ।
मोहैकमुद्रा त्यजति स्म निद्रा भास्वन्मयूखानरविन्दिनीव ॥१५॥

उत्थाय देवी शयनीयतस्ततो जगाम भर्त्रा समधिष्ठिता भुवम् ।
विस्मेर-चामीकर-वारिजासना लक्ष्मीर्यथा राहुरिपोरुर स्थलीम् ॥१६॥

आगच्छ पद्माक्षि । निषीद चात्र प्रयोजन कि प्रतिपादयस्व ।
ता वीक्ष्य मत्तेभगति सहर्षा गुर्वी जगादेति गिर नरेन्द्र ॥१७॥

देहद्युतिद्योतितदिग्विभागा सुस्निग्धकेशाञ्जनवेणिदण्डा ।
स्नेहप्लुता सोज्ज्वलदीपिकेव रराज राज्ञ पुरतो निषण्णा ॥१८॥

---

५. यशो. मा. सविलितै ।

६. महि. स्फुटै

स्वामिन्निदानी सुखतल्पगाह चतुर्दश स्वप्नवरान् ददर्श ।
तेपा विचारामृतमापिपासुर्युष्मन्मुखेन्दोरिति सा जजल्प । १६॥

स्वप्नानथोक्तान् प्रिययावगृह्य तानीहामविक्षन्नृपतिर्धिया निधि ।
सम्प्रश्नवाक्यानि विनेयमालयोपढौकितानि प्रवरो गुरुर्यथा ॥२०॥

निजाननाम्भोरुहसौरभश्रिया प्रियास्यपद्म प्रतिवासयन्नथ ।
स्वप्नार्थमर्घ्यं सुविचार्य धीरधीरिति स्फुटार्था गिरमाददे नृपः ॥२१॥

चतुर्दशाना जगतामधीश्वर चतुर्दशप्राणिगणाभयप्रदम् ।
चतुर्दशस्वप्नविलोकनात्प्रिये चतुर्दिगिज्य[7] प्रसविष्यसे सुतम् ॥२२॥

यो मुक्तसत्पोतवया दृढासनो दोर्दण्डशुण्डोद्धृतदुष्टविष्टर ।
स्फुरन्मदाम्भ -कटकातिदुर्गमो हस्तीव भावी परवारणकोऽसौ ॥२३॥

अलकरिष्णुग्रसमग्रयादवानपत्यरत्न शुभमेकमप्यद. ।
यथा वय पावनयौवन[8] वय सर्वाञ्छरीरावयवाञ्छरीरिण. ॥२४॥

अपश्चिमो ज्ञानवता विपश्चिता धुरि स्थितस्त्यागवता महीभृताम् ।
पूर्वाभिधेयो युधि शौर्यशालिना भावी सुतस्ते प्रथमो यशस्विनाम् ॥२५॥

स्कन्धप्रवन्धाधिकशोभयान्वितो वित्रास्य कम्रान् सकलान्यगोपतीन् ।
अनन्यसामान्यनिजौजसा हठादाक्रम्य गा पण्ड इवैष भोक्ष्यते ॥२६॥

अद्यास्मदीय किल यादवान्वयो वभूव भद्रे परमर्द्धिभाजनम् ।
सम्भाव्यमेयोन्नतमगले[9] कुले यतोऽवतारो महता समीक्ष्यते[10] ॥२७॥

---

७ यशो मा. चतुर्दिगीड्य

८. वपु.पावनयौवनम् इति साधीयान् स्यात्

९. यशो. मा , मद्वि. मेयोन्नतिमगले

१०. यशो. मा. , वि. मा. समीक्ष्यते

मुखाब्जहर्म्यौष्ठकपाटसम्पुट मयोज्य खिन्नेव सदर्थसगिनी ।
इत्याद्युदित्वा रसनासनेऽथ सा सुख विशश्राम नरेन्द्रभारती ॥२८॥

ततस्तथेति प्रतिपद्य हर्षिता गत्वा नरेन्द्रानुमतेर्निजास्पदम् ।
निनाय दु स्वप्नभयेन जाग्रती राज्ञी निशा धर्मकथादिकौतुकै. ॥२९॥

रात्रिस्त्रिया मुग्धतया तमोऽञ्जनैर्दिग्धानि काष्ठातनयामुखान्यथ ।
प्रक्षालयत्पूपमयूखपाथसा देव्या विभात दहशे स्वतातवत् ॥३०॥

यत्रागते पूरुपपु गवा: सदा विलासशय्याभ्य उदस्थुरुच्चकै ।
अभ्यागतेपु प्रतिपत्तिवेदिन. खल्वौचितीं न स्खलयन्ति कुत्रचित् ॥३१॥

यत्रेन्दुरस्ताचलचूलिकाश्रयी बभूव यावद् गलदशुमण्डल[११] ।
म्लानानना तावदभूत्कुमुद्वती कुलागनाना चरित ह्यद स्फुटम् ॥३२॥

यस्मिश्च राकापरिभोगकल्काद्यु क्त यदिन्दो. परिहीयते श्रो ।
सप्तर्पिभिस्तत्किमिहापराद्ध प्रास्तप्रभास्तेऽपि यतो बभूवु ॥३३॥

नभ स्थल ग्लानविभोडुमण्डल यत्रान्वकार्पीत्सरस श्रिय श्रिया ।
निद्रायमाणापरिमाणकैरवावलीभिरालीढविनीलपाथस ॥३४॥

यत्रारुण केवलमिन्दुकान्तया सत्यज्यते चित्रभमम्बर वरम् ।
शोकादिव प्राणपतेर्महत्तमादस्तम्प्रयातस्य तुषाररोचिष ॥३५॥

सवेशनेन श्लथभूपणाम्बरा स्वकान्तरक्ता शुचय पतिव्रता ।
आवव्रिरे यत्र ससम्भ्रमा वपुर्भानो करस्पशमहाभयादिव ॥३६॥

जिन च जैना. सुगत च सौगता. शिव च शैवा कपिल च कापिला ।
यस्मिश्च दध्युर्मु खजाश्चतुर्भु ज काचिन्न लोकायतिकास्तु देवताम्।३७।

यस्मिन् स्वचेतोऽभिमतार्थसिद्धये परेण सन्यस्तमुदग्रसाधनम् ।
निजप्रयोगै प्रतिवाधितु क्वचिद् ऐच्छन् धरित्रीपतयश्च तार्किका. ॥३८

---

११. यशो. मा गलदश्रु मण्डल ।

नक्षत्रमुक्ताकणमण्डिताम्बरा समुल्लसत्कैरवचारुलोचना ।
चन्द्र परद्वीपविवर्तिन पति यत्रानुयातीव सती विभावरी ॥३९॥

यत्रोदित वीक्ष्य रवि दरीषु सनिमील्य चक्षूंषि पतन्ति कौशिका. ।
परश्रिय द्रष्टुमशक्नुवत्तमा भवन्त्यजस्र लघवो ह्यवाङमुखा ॥४०॥

ध्याने मन: स्व मुनिभिर्विलम्बित विलम्बित कर्कशरोचिषा तमः ।
सुष्वाप यस्मिन् कुमुद प्रभासित प्रभासित पंकजबान्धवोपलैः ॥४१॥

यत्र भ्रमद्भ्रमरचुम्बिताननामवेक्ष्य कोपादिव मूर्ध्नि पद्मिनीम् ।
स्वप्रेयसी लोहितमूर्तिमावहन् कठोरपादैर्निजघान तापन. ॥४२॥

यस्मिन् सवित्रा नलिनी स्वपादैर्विमृद्यमानाप्यलमुल्ललास ।
हीं प्रेम तद्यद्वशवर्त्तिचित्त. प्रत्येति दुःख सुखरूपमेव ॥४३॥

यस्मिन् विवस्वानुदयी महीरुहा नित्य तदंशुप्रतिरोधिनामपि ।
छायामतुच्छा वितनोति सर्वत. सन्तो हि शत्रुष्वपि पथ्यकारिण. ॥४४॥

तमस्ततेर्यत्र विडम्बकोऽप्यसौ रविर्न लेभे मुनिलोकतुल्यताम् ।
एकस्तु भावार-करम्बितात्मको भावाऽऽरहीनो विदितोऽपरो यत ।४५।*

खेटातिचारप्रविशुद्धिकर्मण [12] श्रेयस्तमोराशिविचारणक्षमा ।
अनेकधा योगनिलीनदृष्टयो यत्रर्षयो ज्योतिषका इवाबभु ॥४६॥

अमोदवत्कोकनदव्रजाना मरालवीनामबला नवीनाः ।
आमोदवत्कोकनदव्रजानां कुर्वन्ति यस्मिन् विशकल्यवर्तम् [13] ॥४७॥

दिवामुख कोकनितम्बिनीसुख तादृग्विधं वीक्ष्य विचक्षणास्तत ।
इत्यूचिरे चन्दनशीतला गिरस्त मागधा बोधयितु नरेश्वरम् ॥४८॥

---

* एको रविर्भानां प्रभाणा वार समूहस्तेन करम्बितो युक्त । अपरो मुनिलोकस्तु भावश्चासावरीणामार समूहस्तेन हीन ।

१२. यशो मा., वि. मा. प्रविशुद्धिकर्मठा ।

१३. यशो. मा., वि. मा. विशकल्पवर्तं—नालदण्डसदृशवृत्तिम् इति टीकाकृत् ।

प्रात. क्षणाद् गलितकान्तिरसौ शशाको
व्यक्त व्यनक्ति कमला चपला नरेन्द्र ।
निद्रामतो जहिहि भो ! भव जागरूको
देव जिन स्मर विधेहि विभातकृत्यम् ॥४६॥

वैवस्वतै किरणवाणगणै प्रभिन्न वेद !
त्वदीयरिपुचक्रमिवान्धकारम् ।
नष्ट्वाधुना प्रविशति स्म दिगन्तमेतत्
कान्या गतिर्बलिनिपीडितकातरस्य ॥५०॥

सिन्दूर-दाडिम-जपा- कुसुमप्रभेण नव्येन देव ! रविणा तव तेजसा च ।
रक्तीकृते सपदि भूगतवस्तुजाते कैलास एव किल राजति कु कुमाभ ।५२।

भर्तु क्षये परिजन क्षयमेति पूर्व,
तस्योदयेऽभ्युदयमचति देव नूनम् ।
क्षीणौ प्रगेऽत्र रजनी-रजनीश्वरौ
यदुदगच्छत स्म दिवसो दिवसाधिपश्च ॥५२॥

प्रत्यग्रजाग्रदरविन्दमरन्दविन्दु-
ग्रासाग्रसग्रहणलोलुभ एप भृंग ।
राजन् पतत्यतिरसान्नलिनीवनाके,
चक्षुर्यथा प्रणयिनीवदने प्रियस्य ॥५३॥

निद्रासुख समनुभूय चिराय रात्रावुद्भूतशृङ्खलरव.[१४] परिवर्त्य पार्श्वम्।
प्राप्य प्रवोधमपि देव ! गजेन्द्र एप नोन्मीलयत्यलसनेत्रयुग मदान्ध ॥५४॥

हेषारव विदधता दधता महासि .
गत्यानिल च जयता तव मन्दुरायाम् ।
राजेन्द्र ! सैन्धवदलानि तुरगमाणा
खण्डोज्ज्वलान्युपनयन्ति तुरगपाला ॥५५॥

---

१४ यशो. मा. शृङ्खलरव

एतानि तानि तव सुन्दरमन्दिरस्य द्वारे तथा निखिलदेवनिकेतनेषु ।
प्राभातिकानि निनदन्ति पर.शतानि तूर्याणि देव ! जयमगलसूचकानि ५६

सपदि देव ! रथागविहगमा. कथमपि व्यतिलघितरात्रयः ।
समधिगम्य निजप्रमदा मुदा[१५] विरहिताऽरहिता ननृतुस्तराम् ॥५७॥

शुकविना मरुदध्वनि लीयते तदनु चूतफलेषु निलीयते ।
जठरवह्निरतश्च विलीयते प्रमदया समद सह लीयते ॥५८॥

नृपविशाल ! विशालसमानसा. पुरतडागतडागनिवासिन. ।
सवरला वरलाघवगामिनो वनमरालमरालखगा ययु ॥५९॥

पक्वान्नभेदान् वहुधोपभुज्य देवाहरन्ते परमोदकानि ।
समुद्गिरन्त्योऽस्फुटवर्णवाचो घनाढ्यबाला इव पक्षिमालाः ॥६०॥

राजेन्द्र ! पूर्वाचलचूलिकास्थ. सूर्योऽधुना विद्रुमकिंशुकाभः ।
पूर्वागनाया इव भालदेशे काश्मीरलिप्तस्तिलकश्चकास्ति ॥६१॥

आकर्ण्यैव मागधाना मनोज्ञाः वाचः पथ्यास्तथ्यवाग् यादवेन्द्रः ।
निद्रा हित्वा प्राप्य सद्य. प्रबोध भ्रश्यन्माल्य तल्पमुज्झाञ्चकार ॥६२॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये प्रभातवर्णनो नाम द्वितीय. सर्ग ।

---

१५ वि. मा. मुदा

तृतीयः सर्गः

प्राभातिकं कर्म समाप्य सम्यक् समाहितो भूमिपतिः सतन्त्रः ।
अथाश्रयत्पर्षदि सिंहपीठं मृगाधिपोऽद्राविव चारु शृंगम् ॥१॥

शीर्षोच्छ्रितनिवारितोष्मा सोऽधिष्ठिताष्टापदभद्रपीठः ।
जिगाय लक्ष्मीं सुरपादपाधः शक्रस्य हेमाद्रिशिलास्थितस्य ॥२॥

विलोलवालव्यजनान्तराले तस्य प्रसन्नं मुखमावभासे ।
मरालबालद्वयमध्यवर्ति सौवर्णमुन्निद्रमिवाम्बुजातम् ॥३॥

काम्यं प्रकृत्यापि तदीयरूपं सिंहासनाश्रायि विशेषतोऽभूत् ।
मनोहरः किल इन्द्रनीलः पुनः सुवर्णोपरि संनिवेशी[1] ॥४॥

वन्द्यं तदीयं चरणारविन्दं प्रवर्त्तमानं मणिपादपीठे ।
सामन्तभूपाः युगपत्प्रणेमुर्विस्रंसिचूडामणिभिः शिरोभिः ॥५॥

यं यं प्रसन्नेन्दुमुखं स राजा विलोकयामास दृशा स्वभृत्यम् ।
शिश्लेष तं तं गुरुहर्षलक्ष्मीः कामातुरेव प्रमदा स्वकान्तम् ॥६॥

ताम्बूलवल्लीदलरंजितोष्ठी छन्दानुगा नीतिविनीतिपात्रम् ।
पवित्रवेषा चकमे प्रकामं नृपं पतित्वेन सभावधूस्तम् ॥७॥

माणिक्यमुक्ताफलदीप्तदेहस्तुषारचोक्षांशुकभूषिताङ्गः[2] ।
सुदुर्विगाह्यैः कटकैरगम्यो दधौ तदानीं स हिमाद्रिलीलाम् ॥८॥

स्वयूथनागैरिव[3] यूथनाथस्तारासमूहैरिव शारदेन्दुः ।
सान्द्राम्रवृक्षैरिव कल्पवृक्षो मन्त्रिप्रधानैः स वृतो बभासे ॥९॥

---

१. यशो मा. सन्यवेशि

२. यशो मा., वि मा. तुषारभूषाशुकभूषिताङ्गः

३ यशो मा, वि. मा स्वयूथनाथैरिव

तज्ज्ञेन लोकेन विचार्यमाणा कमप्यनाख्येयरस-दधानम् ।
कथासुधा श्रोत्रपुटै सतर्षं पपौ स पूर्व. क्षितिनायकानाम् ॥१०॥
अथ प्रभु. स्वप्नविचारविज्ञान नरान् समाह्वातुमयुक्त भृत्यान् ।
आकारितास्तेऽप्युपतस्थिरे तैर्जयाशिषं भूमिभुजे ददाना: ॥११॥
देव. प्रिये को, वृषभोऽयि किं गौ., नैव वृषांक; किमु शकरो, न ।
जिनो नु चक्रीति वधूवराभ्या यो वक्रमुक्त स मुदे जिनेन्द्रः ॥१२॥
साम्राज्यलक्ष्मी बुभुजे य आदौ चारित्रलक्ष्मी तदनु प्रपेदे ।
लेभे तत केवलबोधलक्ष्मी लक्ष्मी स व: पातु युगादिदेव: ॥१३॥
विध्वसयन्त तमसा समूह प्रकाशयन्त परितोऽर्थतत्त्वम् ।
चित्ताम्बुजे शास्त्रमणि दधाना रात्राविवाट्टे वणिज प्रदीपम् ॥१४॥
स्नाता. प्रशस्ता कृतय: कृतज्ञा वलक्षचोक्षे वसने वसाना: ।
नृपाज्ञया स्वप्नविदो निषेदुस्ते भद्रपीठेषु पुरा धृतेषु ॥१५॥ युग्मम् ॥
चित्रै पवित्रै फलमाल्यवस्त्रैरपूपुजत्तानथ मेदिनीश ।
नैमित्तिका प्रश्नकराय यस्मात् फलानि दृष्ट्वा फलमादिशन्ति ॥१६॥
अद्यार्धरात्रे महिषी गजादीश्चतुर्दश स्वप्नवरान् ददर्श ।
तेषा फल किं प्रतिपादयध्व नैमित्तिकानेवमुवाच तान् स: ॥१७॥
विचारयामासुरमूनुदारान् स्वप्नान् मिथस्ते प्रथम नृपोक्तान् ।
ततोऽगृणन्नेवममो विदग्धा विचार्य वाच हि वदन्ति धीरा: ॥१८॥
सश्रीक-कल्याणमया उदारा: स्वप्ना अमी देव । विवृद्धिकारा. ।
एषा फल वक्तुमनीश्वरा. स्मो जडा यदत्रागिरसोऽपि वाच: ॥१९॥
तथापि शास्त्रानुसृतेरमीषा कश्चिद्[४] विचार प्रतिपादयाम: ।
अन्धोऽपि किं साधु न याति मार्गं करावलम्बेन सलोचनस्य ॥२०॥
निशम्यता यादवराज ! तस्मात् स्वप्नानिमान् पश्यति या किल स्त्री ।
वह्नेव तत्कुक्षिसरोरुहान्तश्चक्री जिनो वावतरत्यवश्यम् ॥२१॥

---

४ यशो. मा., वि. मा. किंचिद्

शास्त्रानुसारान्मतिवैभवाच्च विभाव्यतेऽस्माभिरिद नरेन्द्र ।
अवातरद देव्युदरे जिनेन्द्रो यत्कल्पशाखीव सुमेरुकुञ्जे ॥२२॥
मुदा चतुष्पष्टिरमर्त्यनाथा य भृत्यलोका इव सेवितार ।
तत्रापरेषां सलिलान्नभाजां तपस्विना का गणना नृपाणाम् ॥२३॥
नवस्वतीतेषु शुभावहेषु मासेषु सार्धाष्टमवासरेषु ।
देवी त्रिलोकीजनपूजनीय पुत्र पवित्र जनयिष्य[5]तीश ॥२४॥
नैमित्तिकाना हृदयगमास्ता निशम्य वाचो विमला क्षितीश ।
गुरुप्रमोदाद् द्विगुणा भवन् स मुहुस्तथेति[6] स्म गिरं प्रवक्ति ॥२५॥
तेभ्यो बुधेभ्योऽथ नृप स यावज्जीव ददाति स्म धनं धनाढ्य. ।
वृक्ष सुराणामिव युग्मजेभ्यो गणो निधीनामिव चक्रभृद्भ्यः ॥२६॥
प्रीतास्तत स्वप्नविद. प्रशस्यैराशीवचोभिर्नृपमभ्यनन्दन् ।
कुत्रापि किं नीतिविद. कुलीना. स्वाचारमार्गं व्यतिलघयन्ति ॥२७॥
हृष्टा विसृष्टाः क्षितिपेन शिष्टा नैमित्तिकास्ते ययुर्गृहाणि ।
उत्थाय भूपोऽपि मृगेन्द्रपीठादभ्यर्णवर्ती स बभूव देव्या ॥२८॥
स्वप्नार्थमर्घ्यं कथित च तज्ज्ञै[7] प्राणप्रियायै रहसि क्षितीश ।
न्यवेदयत् स्नेहविमुग्धचेता इष्ट यदिष्टाय निवेदनीयम् ॥२९॥
तत प्रभृत्येव बभार गर्भं सा यादवाधीश्वरधर्मपत्नी ।
कल्पद्रुम मन्दरकन्दरेव रत्नोच्चय रोहणमेदिनीव ॥३०॥
आस्ते सुखेनाथ सुखेन शेते सुखेन तिष्ठत्ययते सुखेन ।
भुंक्ते च पथ्य यदुराजजाया यत्नेन गर्भं परिपोषयन्ती ॥३१॥
लज्जावशाद् वक्ति न मेऽभिलाष वस्तूनि कानि स्पृहयालुरेषा ।
सखीस्तदीया इति पृच्छति स्म मृदु. क्षितीश. परमादरेण ॥३२॥

---

५ वि. मा., महि. जनयिष्यत्यवश्यम् ।
६ यशो मा, वि. मा. मृदु.
७ यशो. मा., वि मा कृतज्ञैः

यो दोहदोऽस्या उदपादि देव्यास्तूर्णं स पूर्ण. परिपूर्ण एव[८] ।
कुत्रापि किं निर्मलपुण्यभाजां सम्पद्यते नात्र समीहितार्थः ॥३३॥

ये दुर्जया ये च पुरा न नेमुर्गर्भस्थिते स्वामिनि तेऽपि भूपाः ।
दशार्हराज निषिषेविरेऽर गुरु विनेया इव भक्तिभाजः ॥३४॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमण्डितागः कालेऽथ देव्याः प्रकटीबभूव ।
पुत्रो विभक्तावयवः सुधर्मोपपादशय्यात[९] इवामरेन्द्रः ॥३५॥

जगज्जनानन्दथुमन्दहेतुर्जगत्त्रयक्लेशसमुद्रसेतु ।
जगत्प्रभुर्यादववंशकेतुर्जगत्पुनाति स्म स कम्बुकेतुः ॥३६॥

अप्राप्तपूर्वं सुखमापुरस्मिन् क्षणे क्षण नारकजन्तवोऽपि ।
महात्मना जन्म जगत्पवित्र केषा प्रमोदाय न जाघटीति ॥३७॥

सपदि दश दिशोऽन्नामेयनैर्मल्यमापुः
समजनि च समस्ते जीवलोके प्रकाशः ।
अपि ववुरनुकूला वायवो रेणुवर्जं
विलयमगमदापददौस्थ्यदु ख पृथिव्याम् ॥३८॥

प्रसृमर-किरणागश्रीजिनादित्यकान्त
मरकतमणिमुख्यामेयरत्नैरुपेतम् ।
उदयशिखरिलक्ष्मीमापदेतत्तदानी
क्षितिपतिमुकुटस्य श्रीदशार्हस्य धाम ॥३९॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये जन्मकल्याणिकवर्णनो नाम तृतीयः सर्ग. ।

---

८. वि मा. एषः

९. 'सुधर्मोपपातशय्यात' इति मूलपाठो निरर्थकत्वान् नोपात्त.' ।

चतुर्थः सर्गः

सर्वासा दिक्कुमारीणा समकाल चकम्पिरे ।
आसनान्यथ सर्वत्र वृक्षा वाताहता इव ॥१॥
प्रयुक्तावधयो जन्माज्ञासिपुस्तास्तत प्रभो ।
भूपाल्य इव वृत्तान्त नीवृत प्रहितस्पशा ॥२॥
हारपुष्पावलीरम्या पीनस्तनमहाफलाः ।
दुकूलपल्लवा कामवल्लिका इव जगमा ॥३॥
सहसा प्रमदोत्फुल्लनयना दामरोचिता ।
सहसा विलसद्भूपा नयनादामरोचिता ॥४॥
कर्णयो कान्तिभि. पूर्णे दधाना मणिकुण्डले ।
सहागतौ तदास्यानि पुष्पवन्ताविवेक्षितुम् ॥५॥
दिग्देव्योऽपि रसालीना सभ्रमा अप्यभ्रमा[1] ।
वामा अपि च नो वामा, भूषिता अप्यभूषिता ॥६॥
भगवज्जन्मज मोदममान्तमिव चान्तरा ।
वहन्त्यो वहिरगेऽपि प्रभामण्डलदम्भत ॥७॥
ततश्च दिक्कुमार्योऽष्टावूर्ध्वलोकादुपाययु ।
वृक्षाद् भृंग्य इवाम्भोज शिवाया सूतिकागृहम् ॥८॥ षड्भि कुलकम्
ताश्चि. प्रदक्षिणीकृत्य जगन्नाथ च मातरम् ।
प्रणिपत्य च सानन्दमनिन्द्यमिदमूचिरे ॥९॥
जय त्व देवदेवेन्द्रमानवेन्द्रस्तुतक्रम ।
नमस्तुभ्य शिवे । मातजगदानन्दनन्दने ॥१०॥
गौर्या लम्बोदर. पुत्र श्रियोऽनगस्तु नन्दन ।
कयोपमीयसे मात ! सर्वांगोत्कृष्टनन्दने ॥११॥

---

१. यशो. मा., वि. मा- अप्यविभ्रमा.

अज्ञानप्रसवा नित्य वल्लिका त्रिदिवौकसाम् ।
सर्वज्ञप्रसवे ! मातः ! कथ तव तयोपमा ॥१२॥
स्त्रीजातिरद्य निन्द्यापि श्लाघनीया जगत्त्रये ।
यत. सर्वगुणावास प्रादुरासीज्जगद्गुरु ॥१३॥
पुरुषेष्वेष एवाम्ब ! जातस्ते सूनुरुत्तम ।
किं स्यु. सुमेरुषण्डेषु सर्वे वृक्षा. सुरद्रुमाः ॥१४॥
न भेतव्य त्वया देवि ! जन्म ज्ञात्वा जिनेशितुः ।
सूतिकर्म वय कर्तुं दिक्कुमार्य. स्म आगता ॥१५॥
निवेद्यात्मानमेव ता परित सूतिकागृहम् ।
जह्रु सवर्तवातेनायोजनादशुचीनणून् ॥१६॥
एता सहृत्य सवर्तं तत्कालमिन्द्रजालवत् ।
निषेदुस्तत्र गायन्त्यो गुणग्रामान् जिनाम्बयो ॥१७॥
वृक्ष स्थललुलन्माल्या रत्नाभरणभूषिता ।
भृश त्वद्भावमापन्ना साक्षादिव मरुल्लता ॥१८॥
मेखलाकिंकिणीनादवाचालजघनस्थला ।
ता अधोलोकतोऽप्यष्टावरिष्ट समुपागमन् ॥१९॥ ※
इमा अपि निवेद्य स्व प्राग्वच्च[2] सौम्यदुर्दिनम् ।
ऊर्ध्वं विचक्रिरे मेघ दीपिका इव कज्जलम् ॥२०॥
वर्षन् गन्धाम्बु पाथोदो भूतले योजनावधौ ।
निन्ये शम[3] रजस्तापौ तमोहिम इवांशुमान् ॥२१॥
पञ्चवर्णानि पुष्पाणि कुमार्यो ववृषुस्तत ।
प्रफुल्ला सुमनोवाट्य पवनप्रेरिता इव ॥२२॥

※ अरिष्ट सूतिकागृहम् इति टीका ।

२ वि. मा प्राग्वत्

३ यशो. मा., वि मा सम

पतितैरपि पुष्पैस्तैर्भूतलं सुरभीकृतम्[४] ।
विपद्यप्युपकुर्वन्ति पूतात्मानो हि निश्चितम् ॥२३॥
उपरिष्टात्प्रसूनाना भ्राम्यद्भ्रमरमण्डलम् ।
अन्वकार्षीत्तदा तत्र नीलोत्तरपटश्रियम् ॥२४॥
प्रजगौ गुजनव्याजाद् भ्रमराली प्रभोर्गुणान् ।
मधुच्छलेन पुष्पाली ताम्बूल प्रददौ[५] किल ॥२५॥
दिक्चक्र सुरभीचक्रे स्वसौरभ्यगुणेन तैः ।
नून सुमनसा लोके परार्थैकफला गुणा ॥२६॥
पुष्पाम्बुवर्षमेतास्तु सवृत्य दिव्यशक्तित ।
गायन्ति स्म गुणान् नेतु. स्वोचितस्थानमास्थिता ॥२७॥
रुचक-पर्वत-पूर्वदिश पुनर्वसुमिता ककुभामथ कन्यका. ।
यदुमहीपतिमन्दिरमागमन् जलनिधिं गिरित सरितो यथा ॥२८॥
जिनमसूर्जननीमपि पूर्ववद् विनुनुवुर्वचसा शिरसानमन् ।
स्तुतिनती विदधाति न क सुधी शुभवतो भवतोयधिमोचिन. ॥२९॥
तदनु ता सुरनाथदिशि स्थिता करगृहीतमनोरमदर्पणा. ।
भगवतो विपुल विमल यश समुदिता मुदिता विदिता जगु ॥३०॥
रुचकदक्षिणत क्षणतस्ततो द्विसहिता षडमू पुनरराययुः ।
स्तनयुगेन घनेन विराजिता कमलकोमलकोशविडम्बिना ॥३१॥
नतजिना रविसूनुदिशि स्थिता करपयोजमहाकनकाकुला. ।
मधुरसाधुरसा जगदु प्रभोरविकल विकलकमिमा यश. ॥३२॥
अष्टौ प्रतीच्या रुचकाचलस्य कूष्टा' प्रभो पुण्यभरै समेत्य ।
द्राक् सूतिसद्मन्यवतेरुरेता प्रिया मृगाणामिव रज्जुबद्धा. ॥३३॥
स्व ज्ञापयित्वा प्रणता निषेदु प्रभो प्रतीच्या दिशि देवतास्ता ।
हस्ताम्बुजातैर्धुततालवृन्ता दिङ्गनागकान्ता इव लोलकर्णा ॥३४॥

---

४. यशो मा सुभगीकृत
५. यशो मा, वि मा. प्रददे

प्राप्तास्तथोदग्रुचकाद्रितो याः प्रकीर्णव्यग्रकराः प्रसन्ना. ।
दिश्युत्तरस्यामवतस्थिरे ता गृहीतकाया इव सिद्धयोऽष्टौ ॥३५॥
आगुर्विदिग्भ्यो रुचकस्य यास्तु सौन्दर्यवर्यावयवाश्चतस्र ।
ता अप्यवन्दन्त[६] जिन शिवा च हर्षप्रकर्षाद् द्विगुणीभवन्त्य ॥३६॥
गीतान्यथो दीपधरा लपन्त्य स्थिता विदिक्ष्वेव बभासिरेऽमू ।
उपासितु देवमुपेयुरासा कृत्वेव रूप विदिशश्चतस्र ॥३७॥
एयुस्तथा या रुचकाद्रिमध्यवासाश्चतस्रश्चतुरा कुमार्य ।
नाल प्रभोश्चिच्छिदुराहृतास्ता आत्मानमावेद्य जिनेन्द्रमातु. ॥३८॥
सूत्यालयात्त्रीणि पवित्ररम्भागृहाणि पूर्वोत्तरदक्षिणासु ।
आशासु निर्माय तदन्तराले पीठ चतु.शालमिमाश्च चक्रु ॥३९॥
रात्न विनिर्यत्किरणाकुल तत्पीठ विरेजे कदलीगृहान्त ।
छन्नेऽभित. कोमलपद्मपत्रै स्वच्छाम्भसीव[७] प्रतिबिम्बचन्द्र. ॥४०॥
आदाय नाथ करसम्पुटेन देवी शिवा दत्तभुजावलम्बाः ।
एता अपाचीनकदल्यगारे निन्यु कुमार्य. प्रथम विधिज्ञा ॥४१॥
जिन जिनाम्बा च निवेश्य पीठे सवाहना तत्र विधाय तज्ज्ञा. ।
उद्वर्तन दास्य इव व्यधुस्ता द्रव्यैरपूर्वैरनयो शरीरे ॥४२॥
प्राचीनरम्भानिलयेऽथ नीत्वा तौ स्नापनीयौ शुचिना जलेन ।
सस्नापयामासुरिमा अमर्य. पुण्याधिकानाममरा हि भृत्या. ॥४३॥
गन्धसारघनसारविलेप कन्यका विदधिरेऽथ तदगे ।
कौतुक महदिद यदमूषामप्यनश्यदखिलो खलु ताप ॥४४॥
तीर्थनाथमथ तज्जनयित्रीमशुकानि परिधाप्य मृदूनि ।
योजयन्ति विमलै स्म कुमार्यो भूषणैरिव सुरद्रुमवल्लो[८] ॥४५॥

---

६ महि अध्यवन्तन्त
७ यशो मा, वि मा स्वस्थाम्भसीव
८ वि मा सुरद्रुमवल्ल्य

विश्वभूषणमवाप्य तै. प्रभुं भूषणैर्विरुरुचेऽधिकं श्रिया ।
निश्चित हि परमर्द्धिहेतवे जायतेऽधिकगुणस्य सगमः ॥४६॥
दिव्यभूषणवती शिवाधिक रोचते स्म रमणीयदर्शना ।
केवलापि सुभगा हरिन्मणी किं पुन कनकसगशालिनी ॥४७॥
देवता अथ शिवा सनन्दना निन्यिरे धनददिङ्‌नकेतनम् ।
धर्मशास्त्रसहिता मर्ति गिर' सद्‌गुरोरिव विनेयमानसम् ॥४८॥
क्षुद्राद्धिमाद्रेस्त्रिदशाभियोगिकैर्गोशीर्षदारूण्युपढौकितान्यथ ।
दग्ध्वानले ताश्च तदीयभस्मनो रक्षीकृते पोट्टलिका व्यधुस्तयोः ॥४९॥
आस्फालयन्त्योऽथ मिथोऽश्मगोलकौ विशालतालाविव चन्द्रनिर्मलौ ।
महीधरायुर्भविता भवानिति प्रोचु कुमार्य. प्रभुकर्णकोटरे ॥५०॥
विश्वत्रयीत्राणपरायणस्य विश्वत्रयीमगलकारिणोऽस्य ।
यन्मगलाशीर्वचन च रक्षा स स्वामिभक्तिक्रम एव तासाम् ॥५१॥
कर्पूरकृष्णागुरुधूपधूम्रे सूत्यालयेऽनल्पविभूषतल्पे ।
संस्थाप्य नाथ जननी तथैता. प्रभोर्गुणान् गातुमित प्रवृत्ता. ॥५२॥
वाटिकर्तुपतिना यथाहृता सत्यबोधसहिता यथा क्रिया ।
श्रीर्यथा शुचिविवेकसगता शक्रदिग् दिनकराश्रिता यथा ॥५३॥
नीलरत्नकलिता यथोर्मिका द्यौर्यथाभिनवमेघशालिनी ।
भृगयुक् कनककेतकी यथा दृग्यथा विमलकज्जलाजिता ॥५४॥
अश्मगर्भमणिकायकान्तिना स्वामिनी सुतवरेण सयुता ।
निर्मलाखिलसतीशिरोमणी रोचते स्म जननी शिवा तया ॥५५॥
॥ त्रिभि कुलकम् ॥
षट्पञ्चाशद् दिक्कुमार्यः किलैव भवत्या युक्तास्तीर्थनाथस्य सम्यक् ।
सर्वं कृत्वा सूतिकृत्य -कृतज्ञा धन्यमन्या. स्थानमात्मीयमीयु ॥५६॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये कुमार्यागमवर्णनो नाम चतुर्थ सर्ग ।

पंचमः सर्गः

अथोर्ध्वलोके सहसा चकम्पे जिनप्रभावश्वसनप्रणुन्नम् ।
आरूढसक्रन्दनराजहंस पीठं सुधर्मासरसीपयोजम् ॥१॥

आसाद्य सिंहासनकम्पनच्छल प्रविश्य देहेऽथ रुषानिशाचरी ।
क्षमाविवेकावहरद् विडौजसश्छिद्रेषु नून प्रहरन्ति वैरिण. ॥२॥

ललाटपट्टं भृकुटीभयानक भ्रुवौ भुजगाविव दारुणाकृती ।
दृशा कराला ज्वलिताग्निकुण्डवच्चण्डार्यमाभ मुखमादधेऽसकौ ॥३॥

ददंश दन्तै रुषया हरिर्निजौ रसेन शच्या अधराविवाधरौ ।
प्रस्फोरयामास[१] करावितस्ततः क्रोधद्रुमस्योल्वणपल्लवा विव ॥४॥

अगानि सर्वाण्यपि वासवस्य विकारमीयु. समकालमेवम् ।
समागते हि व्यसने विवेकी धैर्यावलम्ब विरल. करोति ॥५॥

पराक्रमाक्रान्तसमस्तशत्रु. स मन्यमानस्त्रिजगत्तृणाय ।
दन्दह्यमानोऽथ रुषाग्निनान्त क्षण निदध्याविति वज्रपाणि ॥६॥

क. शैलराज शिरसा विभित्सुः कर्णं मृगेन्द्र ननु को जिघृक्षु ।
जाज्वल्यमाने मम कोपवह्नावद्याहुति. क. कृपणोऽत्र भावी ॥७॥

कोऽय वराक शतकोटि-कोटि-दीप्रप्रदीपे भविता पतङ्ग ।
योऽत्रानयन्मूढमतिर्मदान्धो मृगेन्द्रपीठ ननु मामकीनम् ॥८॥

विपक्षपक्षक्षयबद्धकक्ष विद्युल्लतानामिव सचय तत् ।
स्फुरत्स्फुलिंग कुलिश कराल ध्यात्वेति यावत्स जिघृक्षति स्म ॥९॥

सेनापतिस्तावदमु प्रणम्य मौलौ निबद्धाञ्जलिरित्युवाच ।
प्रवर्तमाने मयि सेवकेऽस्मिन् नामैष ते किंविषयः प्रयास ॥१०॥ कुलकम् ।

---

१ वि मा प्रस्फोटयामास

स्वस्वामिन सेवकसाध्यकार्ये प्रवर्तमानंतु निरुद्यमो य. ।
ऊर्ध्वस्थित[२] पश्यति कातराक्षो भृत्येन किं तेन विधेयमीश ॥११॥
यस्योपरि स्वामिपदा नु रुष्टा निदिश्यता नाथ स सेवकाय ।
यथाचिरमेव तव प्रसादाद् दिक्पालपूजा विदधामि तेन ॥१२॥
सेनाधिपेनेत्युदित. क्षण स योगीव तस्थौ स्थिरचित्तवृत्ति. ।
तत. प्रयुक्तावधिरुग्रवन्वा जन्म प्रभो प्रैक्षत पूजनीयम् ॥१३॥
स दु सहोऽपि[३] त्रिदशाधिपस्य क्रोध शशाम प्रभुदर्शनेन ।
पीयूषपानेन यथा ज्वरार्त्तिः पयोदसेकेन यथा दवाग्नि ॥१४॥
मोहादवज्ञा विहितातवार्य क्षमस्व मेऽस्मादपराधमेकम् ।
भवन्तमन्यच्च विराध्य यस्यात्त्वामेव सत्त्वा शरण प्रपन्ना ॥१५॥
गृणन्नितीन्द्रो निजदुष्कृत तच्चकार मिथ्या प्रभुसाक्षिकं स' ।
निन्दन् स्वपापगुरुपादमूले मुक्तोभवेत्तेन यत. शरीरी ॥१६॥
ससम्भ्रमोऽथो दधिपाण्डुकीर्त्तिर्मृगेन्द्रपीठादुदतिष्ठदिन्द्र ।
अमन्द्रचन्द्रातपदर्शनीय प्राचीनशैलादिव शीतभानु. ।१७॥
दृष्टि ददाना सकलासु दिक्षु किमेतदित्याकुल ब्रुवाणा ।
उत्थानतो देवपतेरकस्मात् सर्वापि चुक्षोभ सभा सुधर्मा ॥१८॥
ततश्च सप्ताष्टपदानि शक्रस्तीर्थंकरस्याभिमुख चचाल ।
विलोकिते पूज्यपदारविन्दे विवेकिना युज्यत एवमेव ॥१९॥
जगत्त्रयीनाथमदृष्टपूर्वी नन्तास्म्यहं जम्भजितोऽपि पूर्वम् ।
इतीव हार. प्रचचाल सारोऽभिसर्पतोऽमुष्य हृदग्रलग्न ॥२०॥
वामैककर्णाभरणांशुजालस्यूतोत्तरासगविभूषितास ।
सर्ज्जिनेन्द्र विधिना प्रणभ्य प्रचक्रमे स्तोतुमितीन्द्र एष ॥२१॥

---

२. यशो मा. महि., ऊर्ध्व स्थित.

३. यशो मा, वि. मा. सुदु सहोऽपि

तुभ्य नम. प्रणमदिन्द्रशिर.किरीटज्योतिर्मरन्दमधुरक्रमपद्म देव ।
तुभ्य नम. मथितदुग्धपयोधिसान्द्रस्वच्छोर्मिनिर्मलतरै. स्वगुणैरगाध ।२२।

ज्योतिर्भरापहतसूतिगृहान्तरिक्षमध्योल्लसद्गृहमणिग्रहपूगतेजा. ।
यत्रोदियाय सवितेव भवान् जिनेन्द्र श्लाघ्य स यादवकुलोदयशैल एष ।२३

इत्यादि सस्तुत्य जिन सुरेन्द्रो मृगेन्द्रपीठे निपसाद पश्चात् ।
घण्टा सुघोषा लघु ताडयेति पदातिनाथाय समादिदेश ॥२४॥

आपूरयन्ती त्रिदिव निनादैर्घण्टा स तां वादयति स्म देव ।
स्नात्रं प्रभोर्ज्ञापयितु सुरेभ्यः प्रोच्चैरकार्षीदिति घोषणा च ॥२५॥

ब्रवीमि किंचित्त्रिदशा. प्रधाना. भो संशृणुध्व विहितावधाना' ।
जन्माभिषेकं जिनपस्य कर्तुं युष्मान् समाकारयतीन्द्र एष. ॥२६॥

श्रोत्राक्षरन्ध्रेषु तदीयवाक्यामृतप्रपाताद् द्युसद समस्ता' ।
रोमोद्गमैरुच्छ्वसिता समन्तात् कदम्बवृक्षा इव मेघसिक्ता ॥२७॥

सुस्निग्धपारिप्लवलोचनाभि समीक्ष्यमाणोऽथ सुरांगनाभिः ।
विमानमारुह्य हरि. सतन्त्रो जन्माभिषेकाय विभो. प्रतस्थे ॥२८॥

तमन्वगच्छन् परिवारभाज सामानिकाद्या द्युसद समस्ता. ।
भानु मयूखा इव भानवीया स्तम्बेरमौघा इव यूथनाथम् ॥२९॥

विचित्रवर्णा मरुतां प्रचेलुर्विमानपूगा गगनांगणेऽथ ।
पयोमुचा भाद्रपदोन्नताना सायन्तनाना श्रियमाहरन्त. ॥३०॥

कीर्णांशुजालै. कमनीयशोभैरतिप्रमाणैर्द्युसदा विमानैः ।
रोलम्बनीलच्छविख तदानी लेभे श्रिय पुष्पितकाननस्य ॥३१॥

गत्वा नृलोकेऽथ दशार्हधाम ददौ शिवायै परिवारभाजे ।
विद्यामवस्वापनिका तुराषाड् रात्री नलिन्या इव शीतरश्मि' ॥३२॥

निवेश्य तत्र प्रतिरूपकेमादाय चिन्तामणिवज्जिनेन्द्रम् ।
शीघ्रं ततो दस्युरिवामरेन्द्रस्त मेरुशैल प्रति सचचार ॥३३॥

अनर्घ्यरत्नप्रकरप्रसर्पत्प्रभाभरध्वस्ततम प्रतान.[४] ।
यो भाति जाम्बूनदहृव्यकाय[५] क्षमागनाया इव मौलिरत्नम् ॥३४॥
ससौरभा पूगलवगदारुणा गुहा यदीया अभुजगदारुणा: ।
विलोक्य का मोहनपण्डिता वरनामोहयद् भूषणमण्डिता वरम् ॥३५॥
उपत्यकाया प्रतिभाति यस्य वन घन कोकिलकण्ठकालम् ।
कटिप्रदेशादिव नीलमस्य स्रस्त पृथिव्या परिधानवस्त्रम् ॥३६॥
इम प्रिये श्यामलतालशाल मीप च पश्यामलतारपुष्पम् ।
इतो वन पश्य लताभिराम वापीश्च दृश्या मलतापहन्त्री. ॥३७॥
एनोमलक्षालनपावनाम्भ सनातन चैत्यमिद जिनानाम् ।
प्राणप्रिये पश्य फल गृहाण स्वनेत्रयोरायतयोर्युगस्य ॥३८॥
प्राणप्रियाया इति दर्शयन्तो नव नव वस्तु सुभद्रशाले ।
विद्याधरा यस्य वने भ्रमन्ति नाम्ना प्रतीते किल भद्रशाले ॥३९॥
त्रिभि कुलकम् ।
सश्रीककल्पद्रुपरम्पर पर यस्मिन् वन चन्दननन्दनन्दनम्[६] ।
दृष्ट्वा स्वकान्त सहसाह साहसानना पुरोचे विनयान्नयान्न या ॥४०॥
उत्तुगशाश्वतजिनायतनेषु नृत्यद्देवागनाचरणनूपुरसान्द्रनादै. ।
आयातचारणमुनीन्छमसौम्यमूर्तीन् य पृच्छतीव सुखसयमकिंवदन्तीम्॥४१
कल्याण-कल्याणनिबद्धभूमिः कान्तार-कान्तारणिभिन्नसानु. ।
पानीय-पानीयनदाभिराम सन्तान-सन्तानविवर्धको य ॥४२॥
जलानताभ्रो यदुपत्यकाया गम्भीरमुच्चैर्निनदन् पयोदः ।
सर्वेषु शैलेषु वसुन्धरायामस्यैव साम्राज्यमिव प्रवक्ति ॥४३॥

---

४. यशो. मा. वि. मा. प्रभाकर
५. यशो मा., वि. मा. दृष्टकायः
६. यशो. मा, वि. मा. कोविदनन्दनन्दनम्

सुरा र्रात यत्र तु कामयन्ते रन्तु च पत्न्या सह कामयन्ते ।
चैत्यानि विम्बावलिमानवन्ति जैनानि नन्तॄन् सशमानवन्ति ।।४४।।

यद्गण्डशैलेषु विशालगण्डा सार्धं स्वकान्तैरुपविश्य कान्तम् ।
गायन्त्यलं किन्नरचचलाक्ष्यो यासा पुर किन्नरचचलाक्ष्यः ।।४५।।

वनानि यस्मिन् विविधद्रुमाणि प्रवालजालैर्जितविद्रुमाणि ।
पक्वाम्रफलराजीपिंजराणि देवीपदाब्जानर्तानर्जराणि ।।४६।।

पादान् यदीयान् कनकावदातानुपासते किन्नरखेचराद्याः ।
उच्चस्य लक्ष्मीललिताम्बुजस्य कुर्वीत को वा नहि पर्युपास्तिम् ।।४७।।

यदश्मसक्रान्ततनो. प्रियाया. भ्रान्त्या तदीय प्रतिविम्बरूपम् ।
पुष्पायुधान्व परिरव्धुकामस्तत्प्रेयसीभिर्हसितो ललज्जे ।।४८।।

ज्योतिष्कचक्रोक्षकदम्बकेन दिने रजन्या च विगाह्यमाने ।
तमोऽन्नभृद्व्योमखले विशाले दधाति यश्चान्तरकीलकत्वम् ।।४९।।

जिनेन्द्रजन्माभिषवाम्बुपूत सर्वस्य लोकस्य च नाभिभूतम् ।
उच्छ्रायतो योजनलक्षमात्र सैद्धान्तिका य प्रवदन्ति शैलम् ।।५०।।

गुरुणा च यत्र तरुणाऽगुरुणा वसुधा क्रियते सुरभिर्वसुधा ।
कमनातुरैति रमणैकमना रमणो सुरस्य शुचिहारमणी ।।५१।।

भित्तिप्रतिज्वलदनेकमनोज्ञरत्ननिर्यन्मयूखपटलीसततप्रकाशा. ।
द्वारेषु निमकर-पुष्करिणीजलोर्मिमूर्च्छन्मरुन्मुषितयात्रिकगात्रघर्मा. ।५२।

पचालिकाकलिततोरणदीप्ति कुम्भसौवर्णदण्डमृदुकेतुमनोरमाभा ।
यत्रोल्लसन्मणिमयप्रतिमासनाथा केषा मनासि न हरन्तितरांविहारा ।५३

प्रविधूतसान्द्रतमसतमस विविधाग्र्यरत्नविभया विभया. ।
शिखर सुपादपरम परममुपभुञ्जतेऽस्य विबुधा विबुधाः ।।५४।।

यदीयचामीकरसानुभित्तौ समुद्गता शाद्वलकल्पवृक्षा. ।
दूरात्समन्तादवलोक्यमाना उत्पादयन्ति भ्रममैन्द्रनीलम्६ ।।५५।।

चारणैः शुभकथाविचारणैर्हारिभि. शुचिगुणैर्विहारिभिः ।
योगिभिः परमचिन्नियोगिभिर्लीयतेऽत्र तदघ विलीयते ॥५६॥

एतस्य तस्यानुपमस्य मेरोरधित्यकालकरण सुरेन्द्र. ।
भजञ्जिन पचभिरात्मरूपै प्रापद्वन पाण्डकनामधेयम् ॥५७॥

ज्योतिर्व्यन्तरदेववदानवगणै. सान्त पुरैरावृतो
लज्जाकातरलोचनाभिरमरीभिर्वीक्ष्यमाणो मुहु.[६] ।
पूतात्मावततार तत्र परमा भक्ति दधत्तीर्थपे
सौवर्णे किल पाण्डुकम्बलशिलापट्टे वास्तोष्पति. ॥५८॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
मेरुवर्णनो नाम पचम. सर्ग ।

---

६. वि. मा मृंदु

षष्ठः सर्गः

अथार्हतं स्नात्रकृते सुरेन्द्राः परेऽपि सर्वे मिलिताः सुमेरौ ।
निवासहेतोर्दिवसावसाने विहगपूगा इव वासवृक्षे ॥१॥
लावण्यपुञ्जं परिपीयमानं विलोलनेत्रैरमरागनाभिः ।
ततो निजाङ्के जिनपं निधाय सौधर्मनाथो निषसाद पीठे ॥२॥
प्रभोः प्रभा नीलपयोजकल्पा शक्रांशुपूरच्छुरिता बभासे ।
प्रत्यग्र-काश्मीरज-यूष-मिश्रा कालोदधेर्वीचिपरम्परेव ॥३॥
प्रवर्तमानः सुरनायकाङ्के जिनोऽतसीसूनसमानभानुः ।
विकस्वरे चम्पकपुष्पकोशे प्रशस्यरोलम्बयुवेव रेजे ॥४॥
पुरन्दराङ्के परिवर्तमानो विनीलकान्तिर्भगवांस्तदानीम् ।
समाश्रितक्ष्माधरमध्यसानोर्जिगाय लक्ष्मीं गजबालकस्य ॥५॥
मृद्रूप्यजाम्बूनदरत्नकुम्भान्नानौषधीमिश्रजलैः प्रपूर्य ।
स्नात्रं विधातुं जगदीश्वरस्य मर्त्याः समस्ता उपतस्थिरेऽथ ॥६॥
वृन्दारकाणां व्यरुचन् करेषु कुम्भाः सुधादीधितिमण्डलाच्छाः[1] ।
उन्निद्रहेमाम्बुजमध्यसंस्था विशुद्धपक्षा इव राजहंसाः ॥७॥
तीर्थाहृतैः स्वच्छजलैर्भृतास्ते कुम्भाश्चतुष्क्रोशमुखा विरेजुः ।
पीयूषकुण्डानि भुजंगलोकात् स्नात्रं प्रभोः कर्तुमिवागतानि ॥८॥
अद्यास्मदीयं सफलं सुरत्वमद्याधिपत्यं चरितार्थमेतत् ।
तीर्णा वयं चाद्य भवाम्बुराशिं चित्ताब्जकोशेष्विति भावयन्तः ॥९॥
समुच्छ्वसन्तः प्रमदातिरेकान्मेघाम्बुसेकादिव नीपकुञ्जाः ।
संजायमानाङ्गदरत्नघर्षं समन्ततो भक्तिरसात्पतन्तः ॥१०॥
अथ प्रशस्यायतबाहुशाखं जगत्त्रयाभीप्सितदानशीलम् ।
सुरासुरेन्द्रा विधिना विधिज्ञा समभ्यसिञ्चन् जिनकल्पवृक्षम् ॥११॥

---

१. यशो. मा., वि. मा मण्डलास्था.

स नाथशीर्षोपरि राजते स्म पतन् घटेभ्यः पयसा समूहः ।
आकाशगङ्गासलिलप्रवाहो द्रष्टु जिनेन्द्र निपतन्निवोच्चैः ॥१२॥

जिनेन्द्रगात्रात् स्म पतन्ति पीठे प्राक् तानि वारीणि ततोऽद्रिशृङ्गे ।
ततोऽपि निम्न समुपेत्य तस्थुरुच्चा स्थितिर्वा क्व भवेज्जडानाम् ॥१३॥

जिनाङ्गसंसर्गपवित्रमम्भः सुरासुरेन्द्रैरपि तद् ववन्दे ।
गुणोत्तमाना विहिता हि सेवा फल जडेभ्योऽपि ददाति सद्यः ॥१४॥

क्षीराम्बुधेः क्षीरलवाविलग्नाः प्रभोरलक्ष्यन्त विनीलकाये ।
नक्षत्रपूगा इव देवमार्गे मुक्ता इवानीलशिलोपरिष्टात् ॥१५॥

दिव्यानि तूर्याणि सुराहतानि रेणुस्तदानीं मधुरस्वराणि ।
आहन्यमाना अपि किं गम्भीराः कदापि कुत्रापि खर रसन्ति ॥१६॥

अभ्यर्च्य कर्पूरकुरङ्गनाभिश्रीखण्डकृष्णागुरुकुङ्कुमाद्यैः ।
अपूपुजन् स्वर्गसदोऽथ नाथ प्रसूनवस्त्राभरणैः प्रधानैः ॥१७॥

विचित्रवर्णः स्पृहणीयशोभः सुरासुरेन्द्रैर्विहितः सुगन्धिः ।
अङ्गेऽङ्गरागो रुरुचे तदीये दिवीव साम्भोमुचि सान्ध्यरागः ॥१८॥

वन्द्यौ पदौ यस्य पुरन्दराणां तस्यापि नाथस्य शिरः समन्तात् ।
आरुह्य पुष्पावलयो हि तस्थुः स्थानं पवित्रा क्व न वा लभन्ते ॥१९॥

अत्यर्थमासीन्नयनाभिरामः आबद्धदिव्याभरणो जिनेन्द्रः ।
अग्रेऽपि हृमः कमनीयमूर्तिर्हेमाम्बुजातैः किमुताप्तसङ्गः ॥२०॥

सुधारसस्नानमिवामृताशो विश्वेशरूपे विगतोपमाने ।
दिव्यांशुकानां परिकल्पितोऽयं किंचिद् विशेष न पुपोष वेषः ॥२१॥

सानन्दलज्ज मुहुरीक्षमाणास्त्रिलोकनाथ ललनाः सुराणाम् ।
तदायतानामनिमेषभाजा साफल्यमापुर्निजलोचनानाम् ॥२२॥

अन्यान् समस्तान् विषयान् विहाय सुरासुराणां[२] नयनाम्बुजानि ।
जिनेन्द्ररूपे युगपन्निपेतुर्भृङ्गा इवोत्फुल्लपयोजखण्डे ॥२३॥

---

२. महि विहायामरासुराणां, यशो. मा विहाय सुरामराणां

अथोल्लसच्चञ्चलकुण्डलाशुवाह्लीकसलिप्तकपोलभित्ति ।
सप्रश्रयं योजितपाणिपद्मः स्तोतु प्रवृत्तो भगवन्तमिन्द्र ॥२४॥

श्रिया निवास प्रयत. प्रणम्य प्रभो त्वदीय चरणारविन्दम् ।
सेव्यं मुमुक्षूत्तम-राजहंसैस्त्वा स्तोतुमिच्छामि जगत्प्रतीक्ष्य ॥२५॥

गुणानुरूप तव नाथ ! रूप सहस्रनेत्रोऽप्यलमीक्षितु न ।
सहस्रजिह्वोऽपि गुणानुदारान् वक्तु प्रभूष्णुर्नहि तावकीनान् ॥२६॥

तथापि नुन्नस्तव भक्तिसख्या स्तोतु गुणास्ते स्पृहयालुरस्मि ।
कि प्रेरितो देव ! शिशुर्जनन्या गिरा स्खलन्त्यापि न वक्ति नाम ॥२७॥

तव स्तवेनायं[3] शरीरभाजा गलन्ति कर्माणि पुराकृतानि ।
निदाघसूर्यातपतापितानि हैमाचलानीव हिमस्थलानि ॥२८॥

सर्वास्ववस्थास्वपि लोकनाथ ! भवान् प्रणुतो हरतेऽघजालम् ।
वृद्धोऽपि बालोऽपि युवापि सूर्यो हिनस्त्यवश्य हि तमःसमूहम् ॥२९॥

अनन्यवृत्ति स्मरण त्वदीय जिनेन्द्र ! भक्त्या विदधाति योऽत्र ।
सिद्धिश्रिया वा त्रिदशश्रिया वै वध्वेव कान्त. परिरभ्यते स्म ॥३०॥

त्व यत्र चित्ते वससि प्रवेश तत्रान्यदेवस्य ददासि नैव ।
विरोधमुक्तो विदितस्तथापि तत्त्व प्रभो ! वा महतामगम्यम् ॥३१॥

त्वदाज्ञयैवात्र जिनेन्द्र ! सिद्धा. सिध्यन्ति सेत्स्यन्ति शरीरभाज. ।
पद्मानि बोध रविरोचिषेवालभन्त लप्स्यन्त इतो लभन्ते ॥३२॥

एके जिन ! त्वा प्रविहाय मूर्खा. कान्तानुरक्तेषु सुरेषु रक्ताः ।
तेषा जडानामुचित तदेतत् तुल्या हि तुल्येषु रति लभन्ते ॥३३॥

अन्यैरजय्यो जिन ! मोहमल्ल. समूलकाष कषितस्त्वयैव ।
केनापि नो नैशमिवान्धकार निर्णाशित सूर्यमृते परेण ॥३४॥

---

३. यशो. मा, वि मा. स्तवेनात्र

यद्यर्कदुग्ध शुचिगोरसस्य प्राप्नोति साम्य च विष सुधाया. ।
देवान्तर देव ! तदा त्वदीया तुल्या दधाति त्रिजगत्प्रदीप ॥३५॥
तीर्थान्तरीया अपि नामभिन्न त्वामेव नाथाप्तममी वदन्ति ।
आप्तो हि सिद्धो भुवि वीतराग. स तु त्वमेवासि चिदात्मरूप ॥३६॥
यस्मिस्तव ज्ञानतरगिणीशे विश्वत्रयीय शफरीव भाति ।
तस्मै त्वदीयाय गुणाय भर्तर्नमोऽस्तु नित्य परमात्मवैद्य[४] ॥३७॥
एकान्तत प्राणिहिता यथा ते वाणी विभो ! नैव तथा परस्य ।
यादृक् स्वमाता सुतवत्सला[५] स्यात्सौम्यापि तादृग् न भवेद् विमाता ।३८
देवासुराणा परिपूजनीयस्त्वत्पादचिन्तामणिरेष पूत. ।
केषाचिदेवासुमता जिनेन्द्रो[६] ! पुण्यात्मना दृग्विपय समेति ॥३९॥
अद्य प्रलीन मम कर्मजाल भाग्य जजागार मदीयमद्य ।
वशीकृता सिद्धिवधूर्मयाद्य प्रभो त्वदीयाननदर्शनेन ॥४०॥
अक्षीणलक्ष्मीकमिद सदा ते सौम्य मुख तीर्थप ! पश्यता न. ।
चित्तेषु नून प्रतिभासतेऽय चन्द्रोऽत्रिचक्षुर्मल एव देव ॥४१॥
तेजोमयोऽय मुखदर्पणस्ते विभाति कश्चिद् भगवन्नपूर्व. ।
यत्रापरेषा वदनानि नैव प्रापु कदा यत्प्रतिरूपभावम् ॥४२॥
तुभ्य नम केवलिपु गवाय, तुभ्य नम पूरुषपुण्डरीक ।
तुभ्य नम. ससृतिपारगाय, तुभ्य नम. सेवकतारकाय ॥४३॥
आख्यातु लोक. किमपीह सार्व ! देवस्त्वमेवेति मति. परं मे ।
दृष्टे हि यस्मिस्त्वयि तात्त्विकाना हर्षाश्रु वर्षन्ति विलोचनानि ॥४४॥
सक्षिप्यते वाक् स्तवनात्त्वदीयान्नेयत्तया विश्वपते ! गुणानाम् ।
किन्तु श्रमान्मुग्धतयाथवार्य ! स्तुत्वा व्यरसीदिति देवराज. ॥४५॥

---

४. यशो. मा., वि. मा परमात्मवेद्य

५ मोहि. ननु वत्सला

६. वि मा. जिनेन्द्र

किंचिद्विनम्राः स्तनकुम्भभाराच्छिरीषपुष्पादपि कोमलांग्यः ।
मदालसा मन्थरदृष्टिपाता लीलाविनिद्रार्धविलोचनाः याः ॥४६॥
वृता दुकूलेन सुकोमलेन विलग्नकाञ्चीगुणजात्यरत्ना ।
विभाति यासां जघनस्थली सा मनोभवस्यासनगब्दिकेव[७] ॥४७॥
नीलाश्मकर्णाभरणावलीढा यासां कपोलाः कनकाभवर्णाः ।
जयन्ति शोभां शशलाञ्छनस्य व्यक्ताष्टमीकैरवबान्धवस्य ॥४८॥
कन्दर्पवीरायुधघातदूनो यासां कठोरस्तनतुम्बयुग्मम् ।
विकूणिताक्षो विनिवेश्य काये मुक्तारतिः स्यात्किल देवलोकः ॥४९॥
सुमांसलाश्चम्पकपुष्पभासः सौन्दर्यलावण्यरसेक्षुदण्डाः ।
जंघा यदीया मृदुला विरेजुः शुण्डा इवानंगमतंगजस्य ॥५०॥
याः पक्वबिम्बीफलसोदरोष्ठ्यो वलित्रयीभूषितमध्यदेशाः ।
तासां बभुर्मंजुलबाहुवल्ल्य इवाद्भुता मन्मथवीरभल्ल्यः ॥५१॥
रणत्तुलाकोटिरवाभिरामं यासां पदद्वन्द्वमनिन्द्यशोभम् ।
जिगाय गुञ्जन्मधुपालिशालि प्रबुध्यमानं कनकाम्बुजातम् ॥५२॥
तूर्येषु गम्भीरनिनादवत्सु प्रताड्यमानेषु चतुर्विधेषु ।
गन्धर्वबालाभिरुदाननाभिर्गीतेषु साध्वालपितेषु सत्सु ॥५३॥
मृगेक्षणा नृत्यधुरन्धरीणाः शक्राज्ञयाऽथाप्सरसो रसाढ्याः ।
संगीतकं देवकुमारमिश्राः प्रारेभिरे ताः पुरतो जिनस्य ॥५४॥ युग्मम् ।
काचिद् दृढानद्धदुकूलचोला सुपीवरश्रोणिविलग्नवेणिः ।
तालानुरूपं परिनाटयन्ती चक्रे क्षणं चित्रगतानिवेन्द्रान् ॥५५॥
परिस्खलत्कंकणचारुहस्ता काचित् स्वनीवीं शिथिलां सलीलम् ।
दृढं[८] बबन्ध स्मितगौरितास्या मुद्रामिवानंगनरेश्वरस्य ॥५६॥
कटीतटे न्यस्य कराब्जमेकं चेक्रीयमाणाभिनयान् परेण ।
सशब्दमंजीरपदा चचाल द्रुतं द्रुतं काचिदनंगतन्त्रा ॥५७॥

---

७. वि. मा आसनगन्दिकेव

८ यशो मा. दृढा

कापि स्फुरत्कुण्डलकान्तिनीरप्रक्षालितोत्तेजितगण्डभित्ति. ।
व्याक्षिप्तचित्ता त्रिदश युवानं नृत्यन्तमग्रे स्खलितं जहास ॥५८॥
मुखश्रिया तर्जितचन्द्रबिम्बा काञ्चीगुणालम्बिनितम्बबिम्बा ।
रम्यांगहारा सरलागयष्टिर्ननर्त काचित्सुविलासदृष्टि. ॥५९॥
तथा च देवाः परमप्रमोदान्नभस्तले केचिदुदप्लवन्त ।
केचिच्च चक्रुर्जयशब्दमुच्चै. केचिद् गभीर मृगराजनादम् ॥६०॥
प्रभो. पुरस्तादिति चारुनाट्यं नानाभिधेय विधिना विधिज्ञा ।
विधाय देवा विदधुः प्रमोद हृष्यन्ति सिद्धे हि न के स्वकार्ये ॥६१॥
द्वाविंशतीर्थाधिपते प्रकल्प्य जन्माभिषेकोत्सवमेवमेते ।
चतुर्विधाः स्वर्गसद सभार्या. कृतार्थमात्मानममसतोच्चैः ॥६२।
पाप सहरते हिनस्ति दुरितं मुष्णाति रोगव्रज
दौर्भाग्य पिदधाति यच्छति शिव लक्ष्मी समाकर्षति ।
पुण्य पाति रुणद्धि दुर्गतिमुख कष्टाच्च गोपायति
स्नान तीर्थकृत. कृत सुकृतिना किं किं न कुर्याच्छुभम् ।६३।
त्रिदशगणपरीतो नायको निर्जराणा
जिनमथ जनयित्रीसन्निधौ स्थापयित्वा ।
विरचितजिनयात्रस्त्वष्टद्वीपतीर्थे
दलितसकलपापः कल्पमाद्य जगाम ॥६४॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
जन्माभिषेक वर्णनो नाम षष्ठः सर्ग. ।

सप्तमः सर्गः

वर्द्धस्व त्व महाराज ! जातस्ते पुत्रपु गवः ।
समुद्रविजयायाथ शशसुरिति चेटिका ॥१॥
तासा वाग्भिर्महीनाथ. सुधासिक्त इवाभवत् ।
कस्य वा न भवेद् हर्षस्तादृशागजजन्मनि ॥२॥
ततस्तुष्टमनाः राजा वस्त्राभरणकांचनैः ।
वर्धापका. समस्तास्ताश्चक्रे कल्पलतोपमा ॥३॥
प्रसादसुमुख सोऽथ पाकशासनशासन' ।
नियोगिन समाहूय झटित्येवान्वशादिति ॥४॥
यादवान्वयपूर्वाद्रावुदित. पुत्रभास्कर ।
सर्वैर्दत्तावधानैर्भो युष्माभि. श्रूयतामित. ॥५॥
यदस्ति बन्दिगोवृन्द रुद्ध चारकवाटके ।
मुच्यतामधुना सर्व तद् युष्माभिर्मदाज्ञया ॥६॥
पजराम्भोजसस्थास्नून् विहगममधुव्रतान् ।
रवेरिवाशवो यूय कुरुध्व स्वैरगामिन' ॥७॥
अमारिघोषणा चापि घोषताखिलपत्तने ।
उत्पन्नो मे सुतो यस्माच्छरण सर्वदेहिनाम् ॥८॥
विधद्ध्व नगर सर्व सारश्रीखण्डपकिलम् ।
पचवर्णैस्तथा पुष्पैर्दन्तुर धूपधूसरम् ॥९॥
इत्यादि शासन राज्ञः प्रतिश्रुत्य नियोगिन' ।
मुदिता निर्ययु सौधात् काननादिव हस्तिन ॥१०॥
तत्क्षणादेव ते सर्वमकार्षु र्नृ पशासनम् ।
वचसा भूभुजा सिद्धिर्मनसेव दिवौकसाम् ॥११॥
तदा सूर्यपुर रेजे नृत्यत्तोरणकेतनम् ।
प्रभो पुण्यप्रभावेण दिव' खण्डमिव च्युतम् ॥१२॥

बभौ राज्ञः सभास्थानं नानाविच्छित्तिसुन्दरम् ।
प्रभोर्जन्ममहो द्रष्टुं स्वर्विमानमिवागतम् ॥१३॥
स्निग्धयोषिज्जनोद्गीतैः कलैर्धवलमङ्गलैः ।
न श्रूयते परः शब्दः कर्णयोः पतितोऽपि च ॥१४॥
अनेकैः स्वार्थमिच्छद्भिर्विनीपकावनीपकैः ।
राजमार्गस्तदाकीर्णः खगैरिव फलद्रुमः ॥१५॥
नृत्यहेतुर्मयूराणां निष्कृताम्बुदगर्जितः ।
तूर्यनादोऽतिगम्भीरो दिगन्तान् व्यानशे तदा ॥१६॥
अथ कुंकुमकर्पूरहरिचन्दनचर्चितः ।
सुगन्धि-सारताम्बूलरंजिताधरपल्लवः ॥१७॥
हंसच्छदच्छविस्वच्छचारुचीनांशुकावृतः ।
हारार्धहारकेयूरमुख्यभूषणभूषितः ॥१८॥
पूर्णेन्दुमण्डलाकारच्छत्रशोभितमस्तकः ।
वीज्यमानो महेलाभिश्चामरैर्मोहितामरैः ॥१९॥
मङ्गलपाठश्रेष्ठैः स्तूयमानः पदे पदे ।
समस्तमन्त्रिसामन्तपुरोहितसमन्वितः ॥२०॥
राज्यलक्ष्मीसमाश्लिष्टः श्रीदशार्हमहीपतिः ।
सिंहासनमलञ्चक्रे पुरन्दर इवापरः ॥२१॥ ॥कुलकम्॥
श्रेष्ठिमण्डलभूपालप्रधानपुरुषैः कृतम् ।
प्रणामं जगृहे सोऽथ प्रतिपत्तिपुरस्सरम् ॥२२॥
नटैर्नाट्यमथारेभे गायनैर्गीतमुत्तमम् ।
स्तुतीनाम् ... बन्दिभिर्विरुदावली ॥२३॥
तव प्रतापदीपस्य कौशिका भुवनत्रयी ।
पतङ्गीभूतपतगस्तु दशा च शिदशाचलः ॥२४॥
विश्वालोकस्य वह्निः सूर्योऽन्देन निधीयते ।
न केनापि परं राजंस्त्वत्तेजः परिहीयते ॥२५॥

या सौधसुखशय्यासु सुप्तास्त्वदरिनायिका ।
क्रुद्धे त्वयीश ! ता. शैलशिलापट्टेषु शेरते ॥२६॥
रणरात्रौ महीनाथ ! चन्द्रहास विलोक्यते ।
वियुज्यते स्वकान्ताभ्यञ्चक्रवाकैरिवारिभिः ॥२७॥
क्राम्यन्ती बहुशो देशान् खेलन्तीश्वरमूर्धनि ।
आसमुद्र विशश्राम तवाज्ञा भीष्मसूरिव ॥२८॥
तव त्यागोद्धता भूप मार्गणा गुणनोदिताः ।
भवतो[1] विजयारम्भ जल्पन्ति समराजिरे ॥२९॥
शुभ्रापि शशिन' कान्तिर्हीयते रविसन्निधौ ।
न पुनर्नाथ कुत्रापि त्वत्कीर्त्तिः पर्यहीयत ॥३०॥
भुञ्जन् राजन् ! महीमेना प्रथयन् न्यायमुत्तमम् ।
प्रजाजनकसकाश ! त्व जीव शरदा शतम् ॥३१॥
इत्थ वन्दिजनोद्गीता कीर्त्तिं मुक्ताफलोज्ज्वलाम् ।
स शुश्राव महीजानि. कर्णामृतच्छटोपमम् ॥३२॥
नृपोऽथ पूरयामासार्थिनामाशा घनोत्करैः ।
शक्र्यमार्णवावासकुवेराणा यशोभरैः ॥३३॥
प्रार्थनामर्थिनामर्थैं साफल्य लम्भयन्नृप ।
द्वादशाह्नी व्यधादुच्चै सूनोर्जन्ममहोत्सवम् ॥३४॥
अथामन्त्र्य निजावासे राजा यादवपुगवान् ।
भोज भोज यथायुक्ति सच्चकार सगौरवम् ॥३ ॥
गर्भस्थिते जगन्नाथे जनयित्री यदैक्षत ।
रिष्टरत्नमय स्वप्ने चक्रनेमिं विभास्वरम् ॥३६॥
तत. स्वप्नानुसारेण प्राड् नव्यपश्चिमादिवत् ।
अरिष्टनेमिरित्याख्या चक्रतु. पितरौ प्रभो. ॥३७॥

---

१ यशो मा, वि मा भवते

यदुकुलकमलार्कश्चन्द्रशालान्तराले
विविधविबुधधात्रीमातृभिर्लाल्यमान. ।
ससलिलवनभूमौ मालिकै. पाल्यमानः
शुभतरुरिव लग्नो वर्धितुं विश्वनाथः ॥३८॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
भगवज्जन्मोत्सववर्णनो नाम सप्तम सर्ग. ।

—卐—

अष्टमः सर्गः

अथ सम पितृबन्धुमनोरथैः प्रववृधे भगवान् पितृसद्मनि ।
अभिमतार्थकताप्रमुखैर्गुणैः[1] सुरगिराविव बालसुरद्रुमः ॥१॥
मरकताश्मदलैरिव निर्मित परिनिबद्धमिवाञ्जनपुद्गलैः ।
अभिनवाम्बुधरैरिव वेष्टित प्रभुवपु फलिनीभ्रुत दिद्युते ॥२॥
सरसिज परिहाय समाश्रयन् भगवतश्चरणाम्बुरुह श्रियः ।
परिचिते ननु सत्यपि सुन्दरे किल जनोऽभिनवे रमतेऽखिल. ॥३॥
अतिकठोरतया परिघ. पुनर्भुजगराजवपुर्विषवत्तया ।
नहि ययावुपमाविषय प्रभोः सरलयो. शुभयोर्भुजदण्डयोः ॥४॥
परमसौम्यगुणो जनदृक्सुखोऽतिशुचि भागवताननमानशे ।
इव मरीचिसमुच्चय उज्ज्वल. सकलशीतलदीधितिमण्डलम् ॥५॥
शमसुधारसवीचिपरिप्लुते लवणिमाञ्जनमिश्रिततारके ।
परितिरस्कृतपकजसम्पदी भवगतो नयने स्म विराजत ॥६॥
हरिमुखैर्यदुराजकुमारकैः सह समानवयोभिरनिन्दितः ।
जिनपतिः प्रचिखेल विमोहयञ्छुभवने भवनेऽपि च नागरान् ॥७॥
समतिक्रम्य शनैरथ शैशव समुपलभ्य विभुर्नवयौवनम् ।
परिपुपोष वपु. सुभगाकृतिर्गजगतो जगतो नयनामृतम् ॥८॥
किमुत पालयितु भुवमागत. सुरपति किमु वा मदनोऽङ्गवान् ।
अयमभूदिति वीक्ष्य जिनेश्वर जनतया नतया हृदि तर्कितम् ॥९॥
अभवदस्य परार्थफलो गुणो निपुणता जगत. प्रतिबोधकृत् ।
अभिमता विभुताखिलयोगिना सुजनता जनतापहृतौ क्षमा ॥१०॥
अभिनव वय ऋद्धिरनुत्तरा परमरूपकला प्रभुताद्भुता[2] ।
परमभून्न विकारपरं मनोऽत्रभवतो भवतोयधिमोचिनः ॥११॥

---

१. यशो मा अभिमताप्यंकता
२. महि, वि मा परमाद्भुला

जगति ते स्तवनीयपदाम्बुजा वयसि ये तरुणेऽप्यविकारिणः ।
रयहृताः सरितो न पतन्ति केऽपि सरलाः सरला विरला द्रुमा. ॥१२॥
अथ निषेवितुमेनमनेनसं विहितसौवतरुप्रसवोपद. ।
ऋतुगण प्रगुणीकृतसम्पदुच्चयततोऽयततोदयशालिनम् ॥१३॥
अधरयन् क्रमत शिशिरश्रिय मलयमारुतपल्लविताध्रिप' ।
ऋतुपति सुरभिर्विपिनावनाववततार तताऽरवकोकिल. ॥१४॥
विविधपल्लवपुष्पफलाकुला श्रुतिसुखोन्मदनीडजकूजिता ।
समभवत्सकलापि वनस्थली सुमनसा मनसा रतिकारिणी ॥१५॥
मधुरमजरिरजितररणद्भ्रमरबन्दिजनैरभिनन्दिता ।
हरति शाद्वलपुष्पितचम्पकैर्न सह का सहकारलता मन' ॥१६॥
कुसुममौक्तिकभासितदिङ्मुख. परिलसद्भ्रमरेन्द्रमणिप्रभः ।
किसलयैररुणो विपिनश्रिया स तिलकस्तिलकश्रियमातनोत् ॥१७॥
रचयितुं ह्युचितामतिथिक्रिया पथिकमाह्वयतीव सगौरवम् ।
कुसुमिता फलिताम्रवणावली सुवयसा वयसा कलकूजितै. ॥१८॥
गुपिलचूतलतागहनान्तरे सहचरीपरिरम्भणलालसम् ।
शुकमवेक्ष्य मुहुर्मुहुरस्मरन् न पथिक पथि क. स्वकटुम्बिनीम् ॥१९॥
उपवनेषु समीक्ष्य विलासिन स्वदयितासनिवेशितदोर्लतान् ।
विरहिणो लुलुठु' स्मृतवल्लभा भुवि कलाविकला मदनाकुला. ॥२०॥
वनितयानितया रमण कयाप्यमलया मलयाचलमारुत ।
घुतलतातलतामरसोऽधिको नहि मतो हिमतो विषतोऽपि न ॥२१॥
उपवने पवनेरितपादपे नवतर वत रन्तुमना परा ।
सकरुणा करुणावचये प्रिय प्रियतमा यतमानमवारयत् ॥२२॥
प्रियकरः कठिनस्तनकुम्भयो प्रियकरः सरसार्तवपल्लवै ।
प्रियतमा समवीजयदाकुला नवरता वरतान्तलतागृहे ॥२३॥
त्यज रुष भज तोषममु जन निपतित पदयोरवलोकय ।
इति वदन् प्रणयी परिषस्वजे मधुरसाधुरसान्वितयान्यया ॥४२॥

सरसचारुतराधरपल्लव कमलिनीललनामुखपकजम् ।
अलियुवा पिबति स्म विकस्वर सुमधुर मधुरजितमानस ॥२५॥

इव विलोकयितु सुरभिश्रिय विकचकुन्दलताकुसुमच्छलात् ।
उडुगणो निखिलः समवातरत् परिविहाय विहाय इलातलम् ॥२६॥

रसभृता. सरसीपु विरेजिरे कनकपकजकोशसमुच्चयाः ।
स्नपयितु जलदेवतया स्मरं सकलशाः कलशा इव सज्जिता ॥२७॥*

उपवने भवनेऽपि मधूत्सवे प्रियसखा नवपल्लवशेखराः ।
अनुबभूवुरनारतमङ्गना ललनदोलनदोर्ग्रहज[3] सुखम् ॥२८॥

विरचयँल्लघिमानमल निश प्रकटभावमियाय महीतले ।
तप ऋतुस्तिरयन्निजसम्पदा समधुना मधुना जनिता श्रियम् ।२९॥

अविकलानि फलानि महीरुहा परिपपाच तपस्तपनाशुभि ।
घटचयाननलैरिव कुम्भकृच्छिवतरान् वत रागमनोहरान् ॥३०॥

सुरभिपकजराजिपतद्रज.कणकरम्बितवारिजलाशये ।
युवजन प्रचिखेल तपे रसादवलया वलयान्वितहस्तया ॥३१॥

प्रियतमाधरबिम्बमिव प्रियो मधुकरो लिलिहे मधुर तपे ।
विकचपाटलपुष्पकदम्बक नवमरन्दमर दधदुज्ज्वलम् ॥३२॥

अजनि किं न तपेऽध्वगदु खकृत्खरदिवाकरतप्तरजश्चय. ।
ज्वलितवह्निकणप्रतिमोऽनिलश्च्युतपलाशपलाशमुखा द्रुमाः ॥३३॥

जलमुचा पटलैर्जलवर्षिभिर्जनितमुष्णरुचा ग्लपयन् क्लमम् ।
अथ समाविरभूज्जलदागमो नवकदम्बकदम्बकवर्द्धक ॥३४॥

स्मितमणीवककेसररेणुभिर्दिगबलावदनानि विभूषयन् ।
अलिकुल मधुलोलमखेदयद् विचकलश्च कल पवनाकुल. ॥३५॥

---

*सकलशा सकला सम्पूर्णा शा लक्ष्मीर्येपु ते इति टीका ।

३ वि मा ललनदोलनयोर्ग्रहजं

सुखयति स्म न क तपतापहृज्जलदकालभव शिशिरानिलः ।
परिवहन्नवकाचनकेतकीशुभरजोभरजोज्ज्वलसौरभम् ॥३६॥
स्मरपते पटहानिव वारिदान् निनदतोऽथ निशम्य विलासिनः ।
समदना न्यपतन्नवकामिनीचरणयो रणयोगविदोऽपि हि ॥३७॥
जयति कापि हि शक्तिरनीदृशी कपटिनोऽस्य मनोभवयोगिन ।
पटुहृपीकमना अपि यद्वशो न हि शृणोति न पश्यति वेत्ति नो॥३८॥
क्षरदभ्रजला कलगर्जिता सचपला चपलानिलनोदिता ।
दिवि चचाल नवाम्बुदमण्डली गजघटेव मनोभवभूपते. ॥३९॥
रविमल विमल रचयन्नथो सकमल कमल परिपूतयन् ।
सुखयितु किल नायमुपागतो धवलरुग्जलदो जलदात्यय.[४] ॥४०॥
समधुपा. स्मितपकजपक्तयो रुरुचिरे रुचिरेषु सरःस्वथ ।
नवशरच्छ्रियमीक्षितुमातनोदिव दृग गतधा जलदेवता ॥४१॥
आप. प्रसेदु कलमा विपेचुर्हंसाश्चुकूजुर्जहसु कजानि ।
सम्भूय सानन्दमिवावतेरु शरद्गुणा सर्वजलाशयेषु ॥४२॥
रसविमुक्तविलोलपयोधरा हसितकाशलसत्पलिताकिता ।
क्षरितपवित्रमशालिकणद्विजा जयति कापि शरज्जरती क्षितौ ।।४३॥
मदोत्कटा विदार्य भूतल वृषा क्षिपन्ति यत्र मस्तके रजो निजे ।
अयुक्तयुक्तकृत्यसविचारणा विदन्ति किं कदा मदान्धबुद्धय.॥४४॥
विजहुरुद्धतता स्मयसम्पदो जलधिगा. शिखिनश्च घनात्यये ।
गतवतीष्टजने बलपुष्टिदे भवति कस्य न दर्पघनच्युति[५] ? ॥४५॥
अनारत त्यक्तजलौघपाण्डुभिर्व्याप्ता समूहै परित पयोमुचाम् ।
द्या वीक्षमाणोऽत्र जहर्ष को नहि श्रीखण्डलिप्तागलतामिवाङ्गनाम्॥४६॥
कम्पयन्नथ दरिद्रकुलान्युद्दण्डवात इव पुण्यवनानि ।
वह्निकोणपरिवर्तितभास्वन्मण्डलो हिममय समयोऽयात् ॥४७॥

---

४ यशो. मा ; वि मा जलदात्यये
५ यशो मा., वि मा दर्पघनच्युति

उपययौ शनकैरिह लाघव दिनगणो खलराग इवानिशम् ।
ववृधिरे च तुपारसमृद्धयोऽनुसमय सुजनप्रणया इव ॥४८॥

सत्यज्य विलासिनीजनो मुक्ताफलमालां समुज्ज्वलाम् ।
भेजे दहन प्रदाहक काले रिपुमप्याश्रयेत्सुधी: ॥४९॥

इह भर्तृभिर्विरहितागनामनोवनदीपितप्रचुरकामपावक: ।
हिमपातदग्धजलजातकानन शिशिरो यथावशिशिरो गुणैरथ ॥५०॥

भृङ्गा. स्फुटत्काचनपद्मखण्डे स्वैर पपुर्ये सुरभौ मरन्दम् ।
माघे करीरेषु चरन्ति तेऽपि गतिर्विधातुर्विषमेति शके ॥५१॥

मलयजादिविलेपन-नीरउच्छयन-माल्यविधावकृतादरा: ।
हिमवलेन तथाप्यहरंस्तरा युवतयो वत योगिमनांस्यपि ॥५२॥

समकेतकचम्पककुन्दलताजलजातवने हिमपातहते ।
भ्रमरो विचचार गिरीषवने सकलोऽप्युदित श्रयतीह जन: ॥५३॥

ऋतुगणे सुभगेऽपि किलेदृशे न च कदा चकमे विषयान् विभु ।
मृगपतिर्निवसन् विपिनान्तरेऽपि सरसानि फलानि कदात्ति किम्।५४।

अमोघशस्त्र विषमास्त्रवीर प्रायुक्त यद्यज्जगताम्प्रतीक्ष्ये ।
बभूव तत्तद् विगतप्रताप क्षीराम्बुराशाविव वासवास्त्रम् ॥५५॥

खेलन्नाथोऽथान्यदा शस्त्रशाला प्राप्त शख वीक्ष्य नारायणस्य ।
आदाच्चैन पाणिना रक्तभासा शृगेणेव प्राग्गिरिश्चन्द्रबिम्बम्।५६।

त्रिजगत्प्रभुपाणिपकजस्थो हिमपिण्डादपि पाण्डुर. स शख ।
प्रमुमोप विकस्वराम्बुजातोपरिवर्तिष्णुमरालबालशोभाम् ॥५७॥

प्रमथ्यमानाम्बुधिनादधीर सव्यापयन्त युगपद् दिगन्तान् ।
बद्धस्पृह श्रीरमणस्य चेतो भयेषु कुर्वन्तमसस्तुतेषु ॥५८॥
क्षोणीभृता गह्वरमण्डलोत्थै प्राप्तप्रकर्ष प्रतिशब्दसघै. ।
विश्वत्रयं शब्दमय सृजन्तमेकार्णव कालमिव क्षयाख्यम् ॥५९॥

पयोदनाद परिशकमाना मयूरवाला अभिनर्तयन्तम् ।
ध्मातो जिनेन्द्रेण स पाञ्चजन्यो ध्वनि ससर्जेव हतो मृदग ६०त्रिभि.कुलकम्

चकितेनेव मुरारिणा ततो विपुल नाथबल बुभुत्सुना ।
जगदे भगवान् स सस्मित मम बाहु नमयेति बान्धव ॥६१॥

हरिभुज भगवानथ लीलया कमलनालमिवानतिमानयत् ।
भवति तावदिभस्य करो दृढ स्पृशति यावदमु न मृगाधिप ॥६२॥

अवलम्ब्य चतुर्भुजोऽथ दीर्घां भुजवल्ली भुवनैकनायकस्य ।
नमनाक्षम आसदत्सुपर्वद्रुमशाखाश्रितवानरस्य शोभाम् ॥६३॥

सकलराज्यमिद कमलापते ! कुरु यथेष्टमशङ्कमनाकुल. ।
अलमपि स्पृहयालुरह न तन्निजगदे प्रभुरेति वृषाकपि ॥६४॥

लक्ष्मी-लावण्य-लीला-कुल-गृह-ललनाश्लेषमुक्ताभिलाषो
मन्वानस्तुच्छमेतद्विषयरससुख तत्त्वतो दु.खरूपम् ।
भुञ्जानो ज्ञानतोषप्रशमरतिसुख शाश्वतानन्दहेतु
तस्थावित्थ जिनेशो निजपितृसदने यौवनस्थोऽपि सुस्थ. ॥६५॥

इति श्री कीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
षड्ऋतुवर्णनो नामः अष्टम सर्ग ।

नवमः सर्गः

विभु विभाव्य भोगार्हमपत्यस्नेहमोहितौ ।
प्रोचाते पितरावेव कैटभारातिमन्यदा ॥१॥
तथा विधीयतां वत्स ! यथा नेमिकुमारकः ।
गृह्णात्येष वधूपाणि सकेत भोगसम्पदः ॥२॥
तमर्थमथ पत्नीभ्यः सर्वाभ्यो हरिरादिशत् ।
ईदृशेषु हि कार्येषु प्रायस्तासां प्रवीणता ॥३॥
सत्यभामादयोऽन्येद्युर्देवकीसूनुवल्लभाः ।
नेमिं व्यजिज्ञपन्नेवं स्नेहसार पटूक्तिभिः ॥४॥
नेमे ! रम्या गलत्येषा यौवनश्रीः क्षणे क्षणे ।
निशाशेषे यथा चन्द्रविम्वदीधितिमण्डली ॥५॥
तद् भो ! भोगानभुञ्जानः पावन यौवन ह्यद ।
किं मुधा गमयस्येव तद्वनस्वापतेयवत् ॥६॥
विश्वातिशायि ते रूप सौभाग्य विश्ववल्लभम् ।
चातुर्यं वर्णनातीत लावण्यमुपमातिगम् ॥७॥
प्रार्थनीय प्रभुत्व ते गीर्वाणस्वामिनामपि ।
महिमा तावको नेमे ! देवानामप्यगोचर ॥८॥
बहुना किं कुमारेन्द्र ! जगदाह्लादकारकैः ।
त्वमाश्रितो गुणैः सर्वैर्नभोदेश इवोडुभिः ॥९॥
परमैश्वर्य-सौन्दर्य-रूपमुख्या गुणा नृणाम् ।
ऋते कान्ता न शोभन्ते निशा विनेन्दुधामवत् ॥१०॥
तद् देवर ! त्रपा मुंच रतिविघ्नविधायिनीम् ।
फलं यौवनवृक्षस्य द्राग् गृहाण विचक्षण ॥११॥
विवाहय कुमारेन्द्र ! बालाश्चचललोचनाः ।
भुङ्क्ष्व भोगान् समं ताभिरप्सरोभिरिवामरः ॥१२॥

रूपसौन्दर्यसम्पन्ना शीलालकारधारिणीम् ।
झरल्लावण्यपीयूषसान्द्रपीनपयोधराम् ॥१३॥
हेमाब्जगर्भगौरागी मृगाक्षी कुलबालिकाम् ।
ये नोपभुञ्जते नून वेधसा वञ्चिता हि ते ॥१४॥युग्मम्॥
ससारे सारभूतो य. किलाय प्रमदाजन ।
सोऽसारश्चेत्तवाभाति गर्दभस्यगणोपम ॥१५॥
एव तर्हि वय नेमे ! न विद्मस्तावकी धियम् ।
अथवा वर्तसे, नून सिद्धिस्त्रीसगमोत्सुक[1] ॥१६॥
सौख्यमेवोपभोक्तव्य मोक्षेऽपि ननु यादव ।
लभ्यते चेत्तदत्रैव तत्कि क्षूण, वदानघ ॥१७॥
श्रुत्वेति भ्रातृजायाना विवेकविकला गिर. ।
किंचिद् विहस्य विश्वेशो निपुण प्रोचिवानिति ॥१८॥
अये तत्त्व न जानीथ वराक्यो मुग्धवुद्धय ।
कुत्र तत्त्वावबोधो वा रागान्धाना शरीरिणाम् ॥१९॥
अज्ञातपरमार्थो हि स्तौति वैषयिक सुखम् ।
पक्व निम्बफल मिष्ट वक्त्यदृष्टप्रियालुक. ॥२०॥
यत्किंचिद्येन वा दृष्ट स तदेव प्रशसति ।
निम्बमेव यतो मिष्ट मन्यते करभागना ॥२१॥
मोदक. क्वौकशश्चात्र क्व सर्पि खण्डमोदक ।
क्वेद वैषयिक सौख्य क्व चिदानन्दज सुखम् ॥२२॥
नामवर्णाविभेदेऽपि सुखयोरेतयो किल ।
स्वादे महान् विशेषोऽस्ति गो-स्नुहीक्षीरयोरिव ॥२३॥
हित धर्मौषध हित्वा मूढा कामज्वरार्दिता ।
मुखप्रियमपथ्य तु सेवन्ते ललनौषधम् ॥२४॥

---

१. यशो. मा, वि मा. सिद्धिश्री

आत्मा तोषयितु नैव शक्यो वैषयिकै सुखैः ।
सलिलैरिव पाथोधि. काष्ठैरिव धनञ्जय. ॥२५॥
अनन्तमक्षय सौख्य भुञ्जानो ब्रह्मसद्मनि ।
ज्योति.स्वरूप एवाय तिष्ठत्यात्मा सनातन ॥२६॥
अत. पर न वक्तव्य युष्माभिरीदृश पुन ।
अवाच्य शिष्टलोकस्य ग्रामीणजनतोचितम् ॥२७॥
स्वभाव मे न जानीथ वसन्त्योऽपि सदान्तिके ।
पाथोजस्य यथामोद भेका सहोषिता अपि ॥२८॥
प्रजावत्य. समस्तास्ता निशम्येति प्रभोर्वच ।
एव बभाषिरे भूय. सत्याभि सरलोक्तिभि ॥२९॥
श्रीनेमे नरकोटीर जगत्पूज्य जिनेश्वर ।
यदुक्त भवता सर्वं तदेव खलु तात्त्विकम् ॥३०॥
जानीमश्च वय पूज्य ! यदेते विषयास्तव ।
मानसे प्रतिभासन्ते नि स्वादास्तुषराशिवत् ॥३१॥
पर स्वपितरौ सर्वैर्बहुमान्यौ तनूद्भवै ।
युष्मादृशैर्विशेषेण विचाराचारकोविदै. ॥३२॥
अविभाव्यात्मन कष्ट पितृन् प्रीणन्ति नन्दना ।
स्कन्धारोपितपित्रम्ब श्रवणोऽत्र निदर्शनम् ॥३३॥
किंच पित्रो सुखायैव प्रवर्तन्ते सुनन्दना. ।
सदा सिन्धो प्रमोदाय चन्द्रो व्योमावगाहते ॥३४॥
भुवने निस्स्पृहा एव परानुग्रहकाम्यया ।
प्रवर्तन्ते महात्मानो दाक्षिण्येन वशीकृता ॥३५॥
अपि प्रमोदयन् विश्व यथा कुमुदबान्धव. ।
प्रीणयत्यधिक सौवान् कृत्वेति कुमुदाकरान् ॥३६॥
तथा त्वमपि विश्वेश ! जगदाह्लादकारकः ।
अतो विशेषतो वर्गं स्व प्रीणयितुमर्हसि ॥३७॥युग्मम्॥

किंवा भूयो वयं वच्मस्त्रिकालज्ञानवान् स्वयम् ।
भगवानेव जानाति लोकलोकोत्तरस्थितिम् ॥३८॥
अत्राभ्यन्तरे शिवाभ्येत्य बाहौ धृत्वा जगत्प्रभुम् ।
प्रोवाचेति बलिं यामि कुमार तव नेत्रयो ॥३९॥
वत्स ! प्रसद्यता सद्यो विवाह' प्रतिपद्यताम् ।
पूर्यन्तां नरकोटीर ! पितॄणा हि मनोरथा. ॥४०॥
निस्स्पृहोऽपि जगन्नाथोऽथ पित्रोरुपरोधत ।
प्रपेदे तद्वच. किञ्चिदलघ्यवचनौ हि तौ ॥४१॥
तत. प्रमुदिता' सर्वे यादवाः सह बन्धुभि. ।
विशेषेण शिवादेवो समुद्रविजयस्तथा ॥४२॥
इतश्चाम्भोजतुल्याक्षो भोजराजागभूरभूत् ।
उग्रसेनो महीजानिरुग्रसेनासमन्वितो ॥४३॥
प्रतापयशसी येन शत्रूणा रणपर्वणि ।
ग्रस्येते परमस्याम्ना चन्द्रार्काविव राहुणा ॥४४॥
करकृतकरवालाय प्रसाद्य यस्मै रणोत्थिताय ।
करवाला करवालान् वितरन्ति[२] विपक्षभूपालाः ॥४५॥ ※
प्रातः सामन्तभूपालैरुपदीकृतवारणा. ।
क्षरन्मदजलैर्यस्य सिंचन्त्यास्थानमण्डपम् ॥४६॥
आधारो दीनलोकानां शरण्य' शरणार्थिनाम् ।
यो निर्विगुणरत्नानामाराम. कीर्त्तिवीरुधाम् ॥४७॥
कोशो लक्ष्मीसरस्वत्योरालान सत्त्वहस्तिनाम् ।
मण्डपो नीतिवल्लीना य स्तम्भ. कुलसद्मनाम् ॥४८॥

---

२ वि मा. करवालान् ददति किल

※ 'करे दण्डे वाला कुमारिका वयम् इति सूचनाय करवालाश्चन्द्रहासान् ददति' इति टीका ।

राजीमतीति नाम्नासीत् फुल्लराजीवलोचना ।
दुहिता तस्य भूपस्य जयन्तीव दिवस्पते ॥४९॥
करण्डी शीलरत्नस्य वापी लवणिमाम्भस ।
वल्ली सौभाग्यकन्दस्य यावधी रूपसम्पदाम् ॥५०॥
निष्कलकेन्दुलेखेव या मृद्वंगी मृणालवत् ।
स्पृहणीयाब्दमालेव हरिणीव सुलोचना ॥५१॥
यस्या वक्त्रजित [3] शके लाघव प्राप्य चन्द्रमा ।
तूलवद्[4] वायुनोत्क्षिप्तो बम्भ्रमीति नभस्तले ॥५२॥
विचालालम्बिरोलम्बविनीलनलिनश्रियम् ।
जह्रे नेत्रयुग तस्या मुग्धस्निग्धकनीनिकम् ॥५३॥
सलावण्यरसौ यस्या स्तनकुम्भौ स्म राजत ।
वक्ष स्थल समुद्भिद्य कामकन्दाविवोत्थितौ ॥५४॥
वभावूरुयुग यस्या कदलीस्तम्भकोमलम् ।
आलान इव दुर्दन्तमीनकेतनहस्तिन ॥५५॥
शके यस्या पदद्वन्द्वसौन्दर्यश्रीपराजितम् ।
कमल सेवतेऽरण्यमद्यापि भयवेपिरम्[5] ॥५६॥
यस्या हि रूपसौन्दर्यनिर्जिता नाकिनायिका. ।
प्रदर्शयन्ति नो नृणा स्वरूप लज्जिता इव ॥५७॥
रूप - प्रेम – त्रपा - धर्मप्रमुखैर्महिलागुणै ।
या व्याप्ता विमलै शस्यैश्चन्द्रलेखेव भानुभि ॥५८॥
ता श्रीनेमिकुमाराय कुमारी सुकुमारिकाम्[6] ।
उग्रसेन ययाचेऽथ सबन्धुर्यादवाग्रणी. ॥५९॥

३ वि मा वक्त्रेण जित
४ वि मा तुलवद्
५ वि मा भयवेपितम्
६ यशो. मा , वि. मा कुमारीमुकुमारिकाम्

उग्रसेनोऽप्युवाचैव हर्षविस्मेरलोचनः ।
आनन्दिता वय तावदनया कथयाप्यहो ॥६०॥
सता तिष्ठतु सम्वन्ध. कथापि सुखयत्यलम् ।
दूरे चन्द्रश्चकोराणा ज्योत्स्नैव[७] कुरुते मुदम् ॥६१॥
सम्वन्धमन्तरा नौ भो सम्वन्धोऽय[८] भवेद्यदि ।
तदा माधव ! मन्येऽहं क्षीरेयी[९] खण्डमिश्रिता ॥६२॥
दत्ता मया कुमारीय कुमारारिष्टनेमये ।
शिव. स्यादनयोर्योगो रोहिणीचन्द्रयोरिव ॥६३॥
जाते कान्तेऽथ सम्वन्धे सम्वन्धिनावुभावपि ।
प्रारेभाते निज कार्यं जलवीज इवाकुरम् ॥६४॥

उपयामयोग्यमखिलं यदिष्यते
प्रगुणीकुरुध्वमधुनेह वस्तु तत् ।
इति भोजभूमिपतिरादिशन्मुहु.[१०]
सचिवान् निजान् प्रमदवारिवारिधिः ॥६५॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
कन्यालाभवर्णनो नाम नवम॰ सर्ग ।

---

७. वि. मा. ज्योत्स्नेव
८. वि. मा. सम्वन्धो नु
९. यशो मा., महि. क्षीरेयी
१०. यशो. मा. मृदुः

दशमः सर्गः

सखीमुखेन्दो. प्रझरन्तमेन वृत्तान्तपीयूपरसं पिबन्ती ।
ततश्चकोरीव चकोरनेत्रा न प्राप तृप्तिं नृपभोजपुत्री ।।१।।
सत्य ममाग्रे यदि न ब्रवीषि मातु पितुस्ते शपथोऽस्ति तर्हि ।
किं हास्यमेतत् किमु सूनृत वा ब्रूपे पप्रच्छेति मुहु.[1] सखी सा ।।२।।
इत समुद्राच्युनतालक्ष्मणा चकार विज्ञप्तिममात्यमण्डली ।
एषा प्रशस्या नरलोकनायका.[1] सामग्र्यगेपोपयमस्य सूत्रिता ।।३।।
उत्सार्याशुचिपुद्गलान् पुरपथा. सिक्ता सुगन्धोदकै
कीर्णास्तत्र विचित्रचम्पकजगाजात्यादिपुष्पोत्करा. ।
कर्पूरागुरुधूपधूमपटलैर्व्याप्त नभोमण्डल
मुक्ता बन्दिजना अमी प्रददते नेमीश्वरायाशिषम् ।।४।।
सौवर्णाश्च मनोरमा मणिचिता उत्तम्भितास्तोरणा
रम्भास्तम्भमनोहरा. प्रगुणिता उच्चैस्तरा मण्डपा· ।
सन्मुक्ताफल- हेमकन्दल- ललन्माणिक्यजालोज्ज्वला
वद्धास्तत्र विचित्रचित्रकलिताश्चन्द्रोदया मंजुला. ।।५।।
एपा किं भुवमागता मुरपुरी किं वाथ भोगावती
लका वा किमु काचनी किमथवा यक्षेश्वराणा पुरी ।
आसन्नोपवनोन्नतद्रुमहिमच्छायाश्रितैरुन्मुखै-
रेव पान्थजनैस्तदा किल हृदि श्रीद्वारिका तर्क्यते ।।६।।
एते वशमहत्तरा हितकरा शृंगारसारा इमे
मुग्धाः स्निग्धवधूजना अविकल गायन्ति मगलम् ।
वर्तन्ते वहुहास्यकौतुकपरा मत्ता. कुमारा अमी
द्वारेऽमी निवसन्त्युपायनजुष सामन्तभूमीभृत.[2] ।।७।।

---

१. यशो. मा, वि मा. मृदु

२. यशो. मा. भूमीभुज

रणद्घर्घरिकोल्वणा रणरणन्मजीरसजिक्रमा
एता नर्तनतत्परा सुनयनास्तिष्ठन्ति वारागना ।
आयाता नवकिन्नरस्वरधरा गन्धर्वसघास्त्वमी
भेरी–मर्दल–ताल-वेणु–पणवातोद्यावलीवादका ॥८॥
नेपथ्य कलयन्नपूर्वरचन शोभा परामावहन्
भूपालै परितोऽन्वितो हरिहयो वृन्दारकौघैरिव ।
बिभ्रन्निर्मलमगरागमतुल व्यावृत्तरागोऽपि सन्
वीवाहाय जगत्प्रभुर्वररथारूढ. प्रतस्थे स ॥९॥
पुण्याढ्य कमला यथा निजपति योषा सुशीला यथा
सूत्रार्थं विशदा यथा विवृतयस्तारा यथा शीतगुम् ।
पु सा कर्म यथा धियश्च हृदय खाना यथा वृत्तय.
सानन्द कुलकोटय किल यदूनामन्वगुस्त तथा ॥१०॥
तदान्यकार्येषु पराङ्मुखाना द्रष्टु जिनेन्द्र भृशमुत्सुकानाम् ।
पुरागनाना चललोचनाना वभूवुरित्थ किल चेष्टितानि ॥११॥
काचिन्नवालक्तकलिप्तपादा जवाद् गवाक्ष प्रति सचरन्ती ।
अजीजनद्विभ्रममम्वुजाना छायापदाब्जैर्मणिकुट्टिमेषु ॥१२॥
काचित्करार्द्रप्रतिकर्मभगभयेन हित्वा पतदुत्तरीयम् ।
मञ्जीरवाचालपदारविन्दा द्रुत गवाक्षाभिमुख चचाल ॥१३॥
प्रभु दिदृक्षु सहसोत्थिता काप्यर्धाचिताया निजहारयष्टे ।
मुक्ताफलै स्थूलतरैर्गलद्भि पदे पदे भूमिमलचकार ॥१४॥
कस्याश्च वातायनसस्थिताया आस्वादनाय प्रगुणीकृतस्य ।
सचूर्णताम्वूललतादलस्य तस्थौ मुखेऽर्धं च करे तथार्धम् ॥१५॥
परा प्रभो रूपमवेक्षमाणा रसातिरेकादनिमेषदृष्टि ।
सख्याह्वयन्त्या अपि पार्श्वगाया शुश्राव शब्द वधिरेव नैव ॥१६॥
काप्यम्वुकुम्भ करपल्लवाभ्यामाकर्षयन्त्युन्नतकन्धराक्षी ।
आकृष्टकोदण्डलतेव तस्थौ स्त्रीणामहो दर्शनलोलुपत्वम् ॥१७॥

पराञ्जयित्वा नयनाम्बुजातमेक परस्याञ्जनहेतवेऽथ ।
शलाकया कज्जलमाददाना शीघ्रं गवाक्ष प्रति निर्जगाम ॥१८॥
काचित्सुवर्णालयजालकान्तर्दृष्ट्वा प्रभु राजपथेऽवतीर्णम् ।
प्रह्लादक चन्द्रमिवाभ्रमार्गे सयोज्य पाणी प्रणनाम मूर्ध्ना ॥१९॥
हले प्रतीक्षस्व निमेषमेक यथाहमप्येमि पिधाय गेहम् ।
इत्य वदन्ती स्वसखीमुपेक्ष्य पीठात्समुत्थाय दधाव काचित् ॥२०॥
काभिश्चिदावासगवाक्षभूमौ मिथ स्वसम्मर्दवशेन कामम् ।
हारच्युता मौक्तिकरत्नपूगा मार्गेषु कीर्णा इव पुष्पपुञ्जा. ॥२१॥
भोज्य सुराणामपि दुर्लभ यत् स्थाले विशाले परिवेपित तत् ।
हित्वा परा द्वारमभिप्रतस्थे चक्षुर्विलोल खलु कामिनीनाम् ॥२२॥
कस्तूरिकाकुकुमपत्रवल्ली· कपोलभित्तौ परिकल्पयन्तौ ।
प्रसाधिकाया अपसाय हस्तौ दधाव काचित्सहसा गवाक्षम् ॥२३॥
गवाक्षभूमौ स्थितकामिनीना विलोक्य वक्त्राणि तदावनिस्था. ।
सशेरते किं गगनप्रदेशे सुधाकराणामुदिता सहस्रा ॥२४॥
सश्लाघ्यमान सुरसुन्दरीभिः ससेव्यमानो नरदेवलोकैः ।
तत· प्रभुश्छत्रनिवारितोष्मा भोजस्य गेहं समया जगाम ॥२५॥
अत्रान्तरे राजिमती सखीभिरेव जजल्पे सखि! पश्य पश्य ।
वरोऽमरीणामपि दुर्लभोऽय नेमि समागात्तव भाग्यकृष्टः ॥२६॥
अन्योन्यं दृढपीवरस्तनतटैं सघट्टयन्त्यो रसा-
देता यादवभूभुजा युवतयस्तन्वन्ति गीतध्वनिम् ।
एते मगलपाठका जयरव कुर्वन्ति कोलाहल
श्रूयन्ते बधिरीकृताखिलदिशो वादित्रनादा अमी ॥२७॥
ततो हिमार्तानिव वेपमानान् निरुद्धदस्यूनिव कातराक्षान् ।
दृष्ट्वा पशून् वाटकचारकस्थान् जगाद सूत जगदेकबन्धु ॥२८॥
मान्यस्य तातस्य बलस्य किं वा भोजस्य लक्ष्मीरमणस्य वा किम् ।
किंचिद् वराकैरपराद्धमेभी रुद्धा यदेवं वद वावदूक ॥२९।

किंचिन्न कस्याप्यपराद्धमेभिरेतैर्यदूनामिह किन्तु भावि ।
सगौरव भोजनगौरव भो ! वचो जगादेति स दक्षिणस्थ ॥३०॥
ऊचेऽथ नाथ शृणु सारथे भो ! गृह्णन्त्यदो भोजनगौरव ये ।
तेऽधोगतौ गौरवमाप्नुवन्ति तेषा च न गौरवमातनोति ॥३१॥ *
ततश्च मोक्षं पशवोऽपि मक्षु विश्वैकबन्धो॰ परमप्रसादा–
दासादयामासुरमी समस्तास्तथाविधाना महिमा ह्यचिन्त्य. ॥३२॥
सूतो रथ स्वामिनिदेशतोऽथ निवर्तयामास विवाहगेहात् ।
यथा गुरुज्ञानबलेन मक्षु दुर्ध्यानतो योगिजनो मन स्वम् ॥३३॥
दृष्ट्वाथ नेमिं विनिवर्तमान किमेतदित्याकुल वदन्त. ।
तमन्वधावन् स्वजनाः समस्तास्त्रस्ता कुरगा इव यूथनाथम् ॥३४॥
वाग्भि सुधाचन्दनशीतलाभि प्राबोधयत्तानिति नेमिनाथ. ।
मरीचिभि कैरवकाननानि रात्रौ यथा कैर्रावणीविबोढा ॥३५॥
भो सशृणुध्व ननु धर्मपापहेतू[3] प्रतीतौ सुखदु खयोर्वै ।
तयोश्च कारुण्यवधौ प्रसिद्धावेव स्थिते किं विदुषा विधेयम् ॥३६॥
दयैव कार्या सुखकांक्षिणात स्यात्सापि सर्वांगिसुरक्षणेन ।
तदिच्छतावश्यमबालिशेन सग समस्त. परिहार्य एव ॥३७॥
अत्रान्तरे भास्वरकायकान्ति[4]-प्रद्योतिताशेपहरिद्विभागै ।
अस्तोकलोकान्तिकदेवलोकैर्विज्ञप्त ईश स्तुतिपूर्वमेवम् ॥३८॥
तुभ्य नमो नम्रसुरासुराय तुभ्य नमो मन्मथनिर्जिताय ।
तुभ्य नम स्मेरमुखाम्बुजाय तुभ्य नम सर्वजगद्धिताय ॥३९॥
आकार एवैष तव प्रतीक्ष्य निर्दोषभाव वदति प्रकाशम् ।
स्वरूपमावेदयतीह पूर्वं बाह्यैव चेष्टा किल सज्जनस्य ॥४०॥

---

* तेषा गौ स्वर्गो रव शब्दमाह्वानमिति यावत् नो नह्यातनोति विस्तृणोति । नहि तेषा स्वर्ग प्राप्तिरिति भावः इति टीका ।

३ महि वमपापे हेतू ।

४ महि, वि मा भास्करकायकान्ति ।

देशप्रकाशप्रवणा प्रदीपवद् गृहे गृहे तीर्थकरा सहस्रशः।
एकस्त्वमेवासि सहस्ररश्मिवद्विश्वावभासी जिनराज ! केवलम्॥४१॥

प्रसद्य सद्य परमार्थवैद्य ! प्रवर्त्यता निर्मलधर्मतीर्थम्।
प्रयान्ति भव्या उपलभ्य यद् द्रागगाधससारसमुद्रपारम्॥४२॥
अथ प्रभुर्वार्षिकदानमुच्चै प्रवर्तयामास यथेष्टमुर्व्याम्।
श्रीपुष्करावर्तकवशजात' प्रमाणवर्जं सलिल यथाब्द'॥४३॥

स्निग्धां विदग्धा नृपभोजपुत्री साम्राज्यलक्ष्मी स्वजन च हित्वा।
पितॄननुज्ञाप्य च माननीयान् बभूव दीक्षाभिमुखोऽथ नेमि॥४४॥
इत. शचीपीनकुचाब्जकोशालिना दधान कुलिश करेण।
ज्वलत्प्रभामण्डलकुण्डलाभ्या सम्पादितापूर्वकपोलशोभ॥४५॥

वेल्लत्पताकोल्वणकिंकिणीध्वनिनादवाचालविमानसस्थ।
विज्ञाय दीक्षासमय सुरेन्द्र सुरै समागत्य[5] ननाम नेमिम्॥४६॥युग्मम्
जलैर्विशुद्धैरभिषिच्य पूर्वं विलिप्य दिव्यैर्घुसृणैस्ततश्च।
प्रधानवस्त्राभरणैर्जिनेन्द्र विभूषयन्ति स्म सुरा नराश्च॥४७॥

नेमिस्तदा निर्मलरत्नमालामुक्तालतामण्डितकण्ठपीठ।
जात्याश्मगर्भाभविभो बभासे धृतेन्द्रकोदण्ड इवाम्बुवाह.॥४८॥

सुरासुरेन्द्रैर्यदुनायकैश्च विधीयमाने परमोत्सवेऽथ।
माणिक्यमुक्ताफलजालमालामनोरमा हेममयी पवित्राम्॥४९॥
नरेन्द्र-नागेन्द्र-सुरेन्द्र-चन्द्रैर्विमानकल्पा सुखमुह्यमानाम्।
अध्यास्य शस्यां शिबिका, जिनेन्द्र. श्रीद्वारिकाराजपथे प्रतस्थे।५०युग्मम्

वच सहस्रै रभिनन्द्यमानश्चक्षु सहस्रै रवलोक्यमान।
शिर'सहस्रै रभिवन्द्यमानश्चेत सहस्रै रवधार्यमाण॥५१॥

---

५ यक्षो मा सहागत्य।

सस्तूयमानो नरदेवदैत्यैरुद्गीयमानः सुरसुन्दरीभि ।
व्रत जिघृक्षुर्भुवनाधिपोऽथ प्रापोज्जयन्ताचलचूतषण्डम् ।५२। युग्मम्

तत्राशोकतले निवेश्य शिविका नेमिस्ततोऽवातरत्
सत्यज्याशुकभूषणादिनिखिल निस्सगचूडामणि ।
सिद्धिस्त्रीपरिरम्भलाभकरणे सचारिका कोविदा
सार्धं[६] शुद्धकुलैः सहस्रपुरुषैर्दीक्षा प्रपेदे तत. ।।५३।।

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये
दीक्षावर्णनो नाम दशम सर्ग. ।

---

६. वि. मा. सार्धं. ।

—卐—

एकादशः सर्गः

अथ भोजनरेन्द्रपुत्रिका प्रविमुक्ता प्रभुणा तपस्विनी ।
व्यलपद् गलदश्रुलोचना शिथिलागा लुठिता महीतले ।।१।।

मयि कोऽयमधीश ! निष्ठुरो व्यवसायस्तव विश्ववत्सल ।
विरहय्य निजा स्वधर्मिणीर्नहि तिष्ठन्ति विहगमा अपि ।।२।।

अपि सन्मुखवीक्षणेन नानुगृहीता भवता कदाप्यहम् ।
मयि तत्किमिहेयती कृतिन्नबलाया भवतोऽप्रसन्नता ।।३।।

अपराधमृते विहाय मा यदिमामाद्रियसे व्रतस्त्रियम् ।
वहुभि. पुरुषै पुरा धृता नहि तन्नाथ ! कुलोचित तव ।।४।।

रचयन्ति यदीदृगुत्तमा ननु कस्मै तदिद निवेद्यते ।
अथवा सरिता पतिर्निजा स्थितिमुज्झन्निह केन वार्यते ।।५।।

कुरुषे यदि सर्वदेहिना करुणा किं तदह न देहभृत् ।
विजहासि यदेवमीश ! मामतिदीना करुणास्पद सताम् ।।६।।

सुरपादपवत्समीहित जगत पूरयसि त्वमेव हि ।
निहताशमिम जनं विदधीथाः किमिति प्रिय ! प्रभो ।।७।।

अपहृत्य मनो मम प्रभो नहि गन्तु तव युज्यते वने ।
परिगृह्य परस्य वस्तु यन्नहि धीराः प्रविशन्ति गह्वरे ।।८।।

लभते नियत स चिन्तित हृदि यो ध्यायति पूज्यमात्मन' ।
यदिद प्रवदन्ति सूरयो मयि किं तद् व्यभिचारमेष्यति ।।९।।

ननु राजिमती पुराप्यह मम नेमेश्च विचाल आयता ।
बत राजिरपाति वेधसा नियत दुर्बलघातको विधि ।।१०।।

अथवा मम दुष्टकर्मणा फलमेतत्सकल ध्रुव प्रभो ।
विजहाति मरु यदम्बुद' स हि दोषो मरुदुर्भगत्वज' ।।११।।

इति ता घनशोकविह्वला विलपन्ती लुठितामिलातले ।
निजगाद सबाष्पगद्गद स्वजनोऽङ्के विनिवेश्य वत्सले ॥१२॥

राजिमति पुत्रि कोविदे भव धीरा विजहीहि शोचनम् ।
किं किं न भवेच्छरीरिणा प्रतिकूले हि विधौ शुभेतरत् ॥१३॥

कतरो विधिना न खण्डित कतरोऽभीष्टवियोगमाप न ।
सुखितो भुवनेऽत्र क सदा फलित कस्य समस्तमीहितम् ॥१४॥

रुदितेन तनूभृता किल स्वमनोऽभीष्टमवाप्यते यदि ।
वहुशो विरस विरटस्तदा रवणो नैव लभेत यातनाम् ॥१५॥

निपतन् सहसा महीतले ध्रियते मेरुमहीधर कदा ।
न पुनर्भविना शुभाशुभ. परिणाम. समुपात्तकर्मणाम् ॥१६॥

परिवृत्य दिनक्षपे इव ध्रुवमेतोऽङ्गिनि सम्पदापदौ ।
तदल विवुधे शुचाधुना कुरु धर्मं सकलार्थसाधनम् ॥१७॥

नियत सकलार्थसिद्धय. सुकृतादेव भवन्ति देहिनाम् ।
नवपल्लवपुष्पसम्पदोऽम्वुदसेकादिव नीपभूरुहाम् ॥१८॥

इति सा स्वजनेन वोधिता विदुषी शोकमपास्य दूरत ।
समजायत धर्मतत्परा सुखवोध्यो हि विशारदो जन ॥१९॥

अथ रागरुपाविवर्जित. शशिविम्वोपमसौम्यदर्शन ।
सुरशैलसमानधीरिमा परमध्यानमना जिनोऽजनि ॥२०॥

करुणारसवीचिसागर परवस्तुग्रहणे पराङ्मुख ।
हितसत्यवचा सुशीलवान् मुनिपोऽभूत्समलोष्टकाचनः ॥२१॥

परमोग्रतप करौजसा घनकर्मद्रुचय समुत्खनन् ।
प्रभुमत्तमतगज सुखं विजहाराचलकाननादिषु ॥२२॥

उपसर्ग-परीषह-द्विषोऽवगणय्यात्र जिनाधिनायक. ।
तप आरभतातिदु सह खलु शुद्धिर्न तपो विनात्मन ॥२३॥

चरण-क्षितिपाल-सैनिकैरथ गाढ विषया विडम्बिता ।
निजनायकमोहराट्पुरो विदधु. पूत्कृतिमुच्चकैरिति ॥२४॥
हठत' परिगृह्य सर्वतो जिननेमीशमनोमहापुरम् ।
चरणाधिपसैनिकैर्विभो सह कामेन कदर्थिता वयम् ॥२५॥
खगणो निखिलो नियन्त्रित स्मरभार्या वहुशो विडम्बिता ।
महिता नगराधिदेवता मदमिथ्यात्वभटादिमौलिभि. ॥२६॥
वहुना किमधीश शत्रुभि. परमध्यानवलेन निर्दयम् ।
रतिकामवल विलोडित सुरसघैरिव मेरुणार्णव ॥२७॥
त्वरित निजवैरिशुद्धये क्रियता देव समुद्यमोऽधुना ।
रिपवस्तरवश्च दुर्द्धरा ननु पश्चाद् दृढवद्धमूलका ॥२८॥
रिपवश्च गदाश्च येन भो उदयन्तोऽपि न सर्वथा हता ।
कतिभिर्दिवसैरसशय स हि तेभ्यो लभते परापदम् ॥२९॥
अनिहत्य रिपून् स्वगर्वतो गतचिन्तो निवसेन्नृपोऽत्र य. ।
सविधे स्वपितीह मूढधी स परिक्षिप्य हविर्हुताशने ॥३०॥
विपयैरिति सनिवेदिते जगदे मोहनृपेण सस्मितम् ।
विचरन्तु सुख मृगा अमी शेते यावदय मृगाधिप ॥३१॥
मम नेमिपुर हि शासत किल काल प्रययावनन्तक ।
तदिदं मयि जीवति क्षितौ सति गृह्णाति भटोऽद्य क पर ॥३२॥
अथ मोहमहीभुजात्मनो द्विषता चापि वल वुभुत्सुना ।
कुमताभिधदूतपु गव प्रहित सयमराज-सन्निधौ[1] ॥३३॥
परितो द्विपता मनोऽम्बुधौ जनयन् क्षोभमनुत्तर ततः ।
चरणाधिपपर्षदन्तरे स विशित्वेति जगौ पटुप्रवाक् ॥३४॥
तव सन्दिशतीति मोहराड् चरणाधीश्वर मन्मुखेन भोः ।
त्यज नेमिमन पुर मम व्रज चान्यत्र तवास्तु मगलम् ॥३५॥

---

१. महि कुमताभिधदूतपुङ्गव प्रहिणोति स्म चरित्रमन्निधौ

त्यजतस्तव नेमिमानस नहि लज्जा कणिकापि सयम ।
यदमोचि पुरापि राजभिर्बहुभिर्भूर्बलवत्प्रणोदितै. ॥३६॥
अथवा चरगेश दु.सहे मम सैन्ये प्रवले विलोकिते ।
पुरतोऽपि पलायनाभिधा तव विद्या वशवर्तिनी सदा ॥३७॥
न पुनर्यदि नेमिपत्तन विजहासि व्रतभूप ! सम्प्रति ।
न भविष्यसि तर्हि निश्चित चरित मे तव सस्तुत सदा ॥३८॥
परिणामहित वचो मया स्फुटमाख्यातमिद तवाग्रत. ।
अथ यत्तव रोचतेतरा कुरु तत्सम्प्रति सयमाधिप ॥३९॥
कुमते वदतोत्यनर्गल चरणाधीश्वरनेत्रनोदित ।
स्मितपूर्वमभाषत स्फुट सचिव शुद्धविवेकसज्ञक. ॥४०॥
तव दूत सुभाषित ह्यदस्त्वमहो वाग्ग्म्यसि वुद्धिमानसि ।
वचन भवता विनेदृश ननु वक्तु भुवि वेत्ति क पर ॥४१॥
विनिपात्य रिपून् पर वलात् प्रगृहीत निजवासहेतवे ।
रिपुमोहभयाद् विमुच्यते कथमस्माभिरिद मन पुरम् ॥४२॥
परिगृह्य तव प्रभोर्बलादपि दुर्गाणि पुराप्यनेकश ।
विशदात्मपुराणि सवथा परिभु क्ते व्रतभूपतिः स्वयम् ॥४३॥
यदि शक्तिरिहास्ति ते प्रभो. परिगृह्णातु तदा तु तान्यपि ।
परमेप विलोलजिह्वया कपटी भापयते जगज्जनम् ॥४४॥
अवगच्छति योऽस्य लक्षण कितवस्याधिपते सखे ? तव ।
सपरिच्छदमेव तत्क्षणात् सुखमुन्मूलयतीममेप स ॥४५॥
तव दूत ! पति सकोऽधुना विनिवार्यो भवता कदाग्रहात् ।
चरणोत्कटसैन्यपावके भविताय शलभोऽन्यथा ध्रुवम् ॥४६॥
इति सयममन्त्रिणोदिते रिपुदूत. पुनरब्रवीदिदम् ।
मम चेतसि भासतेतरा चरण ! त्व सपरिच्छद कुधी ॥४७॥
यदवाचि मया हित वचो ननु युष्मासु वभूव तत्क्रुधे ।
तदिद खलु सत्यमेव यन्नहि कार्या हितदेशना जडे ॥४८॥

क्व स मोहनृपो भटाग्रणी. क्व भवानेष च कातराग्रणी · ।
विविनक्ति मदान्धलोचनो न पर स्वेतरयोर्बलाबलम् ॥४९॥
मम नाथभटै स्वलीलया तव भग्ना शतशो यदाश्रयाः ।
किमियं तव शूरता सखे ! पितृसद्मोपगतार्भवत्तदा ॥५०॥
किमिद तव विस्मृत सखे यदसौ पूर्वभवेषु नेमिराट् ।
मम भूमिभुजात्मसात्कृत परिनिर्बाध्य भवन्तमागतम् ॥५१॥
अपसार्य भवन्तमग्रतस्तव पात्राणि कदर्थितान्यहो ।
मयका स्वप्रतिप्रसादतः स्मरसीद स्मरणैकपण्डित ॥५२॥
क्षयमेष्यसि संयमाल्पधीरवजानन्मम नाथमुत्कटम् ।
प्लवगस्य पराभवो ध्रुवं मृगनाथे मरणैकहेतवे ॥५३॥
इति कर्कशमस्य भाषित भृशमाकर्ण्य चरित्रसैनिकाः ।
कुपिता कुमत गले दृढ किल धृत्वा निरकाशयन् बहि· ॥५४॥
विहित रिपुभि. स्वधर्षण[2] स च गत्वा नृपमोहपपदि ।
निजगाद समस्तमुच्चकैर्व्रतभूपालबल प्रकाशयन् ॥५५॥
कुपितोऽथ रणाय सोद्यम. स्वभटानाह्वयति स्म मोहराट् ।
बलिनो खलु मानशालिनो विषहन्ते न रिपो पराभवम् ।५६।
परिमील्य ततो मदोद्धत बलमात्मीयमशेषमाहृत ।
चरणेन समं रणोत्सव प्रचिकीर्षु· प्रचचाल मोहराट् ॥५७॥
पुरतोऽथ मम द्विषो महाभटानामभिधा गृहाण भो ।
इति पृष्ट उवाच सयमक्षितिपालेन सुबोधधीसख ॥५८॥
श्रृणु नाथ ! तव द्विषो बले कुमतास्य सुभटो महाबल ।
कपटैर्विविधैर्विचेष्टितै. सकल येन विडम्बितं जगत् ॥५९॥
अमुनैव जनाः प्रतारिता ननु लिङ्ग प्रणमन्ति केचन ।
अपरे मुमुचुः कुटुम्बक वपुरर्चन्ति च केऽपि भस्मना ॥६०॥

---

२ यशो. मा. स्वधर्षण

पुरुष-प्रमदारथाश्रया. विषया पंच परे महाभटा. ।
अवमन्य भवन्तमीश्वर निखिला यैर्जनता विगोप्यते ॥६१॥
रिपुमोहसुतः क्रुधाभिधोऽरुणतावेपथुतापलक्षण. ।
उदितः स शिखीव देहिना लघु भस्मीकुरुते गुणेन्धनम् ॥६२॥
परनिन्दनतत्परः परस्तनयोऽस्यैव हि माननामक ।
तृणवन्मनुते जगत्त्रय स्वगुणैरेप समुन्नत सदा ॥६३॥
मधुरां भुवनप्रतारिणी शठता मोहसुतां विलोकसे ।
यदपीयमहो निहन्यते तदपि स्त्रीवधज न पातकम् ॥६४॥
समुदेति च येन जीवता क्षपितोऽपि द्विषतोऽन्वयस्त्वया ।
त्रिजगत्यपकारकारक ननु लोभाह्वमवेहि त भटम् ॥६५॥
इह यास्ति विपक्षमध्यगा विकथैका सुभटी चतुर्मुखी ।
अनया वहु खेदिता भटास्तव सद्वोधसदागमादय ॥६६॥
प्रतिपक्षमहीभुज. पर प्रतिकूलो विधिरद्य वर्तते ।
करमव्यग एव तेन ते विजयो नाथ न चात्र सशय. ॥६७॥
वदतीति सुवोधमन्त्रिणि स्फुटमेव तुमुल समुत्थित ।
त्वरित प्रगुणीभवन्तु भो. सुभटा शत्रुचमू समागमत् ॥६८॥
मुदिताश्चरणेशसैनिका जगृहुर्वर्म ततश्च सोद्यमा. ।
प्रथम वहुशः प्रवुध्यते मन आगामिशुभाशुभ कदा ॥६९॥
अवलोक्य पुरो द्विषा वलं मम भावी विजयोऽधुना न वा ।
इति मोहमहीभुजोदितो गणक. स्माह मनोऽभिधस्तदा ॥७०॥
गहन ननु दैवचेष्टित नहि सम्यक् तदिनावधार्यते ।
शकुना न शुभा भवन्ति भो विजयस्तेन तवाद्य दुर्लभ ॥७१॥
अथ सस्मितमाह मोहराट् स्खलितस्त्व गणकन्नु वावुध ।
यदि मेरुरपानिधि तरेन्न भवेत्तर्ह्यपि मे पराजय ॥७२॥
गणयस्तृणवद्रिपून् मदात् कुपितो मोहमहीपतिस्तत ।
समराय समुत्थितो रयात् सह रागादिकदण्डनायकै ॥७३॥

उपसर्गगजा पुरस्कृता मदहास्यादिहयाः प्रणोदिताः ।
चलिता विषया महारथा अभिमानादिभटाश्च सज्जिता. ।७४।
क्षुभिताम्बुधिसन्निभ तदा प्रवल मोहवल सुदु.सहम् ।
अवलोक्य चरित्रभूभुज परिलग्ना. सुभटा प्रकम्पितुम् ।७५।
उदिता वलशालिना तत सुभटास्तत्त्वविमर्शमन्त्रिणा ।
मा भैष्ट भवेत[3] सुस्थिता ननु धीरैः क्रियते द्विषज्जयः ॥७६॥
विकलागधरोऽपि तापन यमवप्तारमपि प्रभापतिम् ।
ग्रसते ननु सिंहिकासुतो नियत सत्त्ववशा हि सिद्धयः ॥७७॥
प्रहिनस्ति यथा मृगाधिपो ध्रुवमेकोऽपि शतानि हस्तिनाम् ।
न तथा यदि मोहसैनिकान् निखिलान् हन्मि न तर्हि पूरुष.।७८।
रणतूर्यरवे समुत्थिते भटहक्कापरिगर्जितेऽम्बरे ।
उभयोर्बलयो· परस्पर परिलग्नोऽथ विभीषणो रण.।।७९।।
वलयोरितरेतर तयोर्जयभङ्गौ वहुशो वितन्वतो. ।
त्वरित त्वरित खगीव सा जयलक्ष्मीर्भ्रमति स्म मध्यगा ।८०।
चरणेशभटैर्बलोत्कटै कुपितैर्ब्रह्मभिदाग्रयष्टिभि[4] ।
प्रविदारितमस्तक स्मर सह पत्न्याथ पपात निस्सहः ॥८१॥
प्राणिधानभटेन जिष्णुना शुभलेश्यागदया गरिष्ठया ।
वहव· परिचूर्णितास्तत कणशो मोहमहीपतेर्भटा. ॥८२॥
मम वा चरणाधिपस्य वा प्रलयोऽद्येति विनिश्चयस्तत ।
समराय समुत्थित स्वय नृपमोह. सह लोभसैनिकै. ॥८३॥
विशदाध्यवसायमुद्गरैर्वलवान् सयमभूपतिस्तत. ।
रयतोऽभिसरन्तमेव त सहसाहत्य चकार खण्डश. ॥८४॥
सश्लाघ्यमानोऽथ नरामरेन्द्रैश्चारित्र्यराज सुमवृष्टिपूर्वम् ।
स्वसैन्ययुक्त परमोत्सवेन विवेश नेमीश्वरराजधान्याम् ॥८५॥

---

३ भवत इति साधीयान्

४ ब्रह्मभिदग्रयष्टिभि इति श्रेयान्

श्रीमन्नेमेरथ निरुपमे केवलज्ञानदृष्टी
निर्व्याघाते समुदलसता घातिकर्मक्षयेण ।
लोकालोकौ सततमखिलौ यत्प्रभावेण जीवो
नित्यं हस्तामलकफलकवद् बुध्यते वीक्षते च ॥८६॥

इति श्रीकीर्त्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये मोहसंयम-युद्धवर्णनो नामैकादशः सर्गः ।

द्वादशः सर्गः

कलधौतहेममणिशालमध्यगं सुरसघनिर्मितमृगेन्द्रविष्टरम् ।
श्रितवान् रराज भगवानथासित कनकाद्रिशृ गमिव नव्यनीरद ॥१॥
भगवन्तमाप्तवरकेवल तत. परिगम्य हर्षजलधिर्विवन्दिषु ।
निरगाज्जवाद्यदुपति सनागरो नहि धर्मकर्मणि सुधीर्विलम्बते ॥२॥
प्रचलन् पथि प्रणयपूर्णमानस. पुरकाननप्रभृतिदर्शनोन्मुखीम् ।
नगरीजनः प्रियतमा निजामिद वचन कराभिनयपूर्वमब्रवीत् ॥३॥
विविधद्रुम गुपिलवल्लीमण्डप सफल सुगन्धि सुमनोमनोरमम् ।
बहुभिर्विहगमकुलैर्निषेवित प्रविलोकये सुतनु ! पावन वनम् ॥४॥
मदमत्तभृ गपिकयोषिता रवैरपि[1] वातनुन्नदलहस्तसज्ञया ।
अयमाह्वयन्निव फलार्थिन जन सहकारवृक्ष इह लक्ष्यते प्रिये ॥५॥
उपरि भ्रमद्भ्रमरमण्डलैरसौ कथिताग्र्यगन्धमहिमापरद्रुमान् ।
तरलैर्दलै स्फुटमध. क्षिपन्निव प्रसृताक्षि ! केतकीतरुर्विलोक्यताम् ॥६॥
शिशिरा परोपकृतिहेतवे सदा दधतोऽपि जीवनमनाविल बहु ।
विदितास्तथापि च जडाशया अमी सुकृतैर्यशो नियतमाप्यते प्रिये ॥७॥
शुकशारिकाद्विकपिकादिपक्षित परिरक्ष्यमाणमभितः कृषीवलैः ।
प्रसमीक्ष्यता स्वफलभारभगुरं परिपक्वशालि वनमायतेक्षणि ॥८॥
पवमानचचलदल जलाशये रवितेजसा स्फुटदिद पयोरुहम् ।
परिशक्यते बत मया तवाननात् कमलाक्षि ! बिम्यदिव कम्पतेतराम् ॥९॥
गुडशर्कराजनक इक्षुदण्डक परम रस वहति यद्यपि प्रिये ।
अधरस्तथापि च तवाधरादतिभूषणाद्[2] भवति नीरसो यतः ॥१०॥

---

१. वि. मा. रवैरय

२. यशो. मा , वि. मा तवाधरादसावपि भूपणाद्

कलगीतिनादरसरङ्गवेदिनो हरिणा अमी हरिणलोचने! वने।
सह कामिनिभिरलमुत्पतन्ति हे परिपीतवातपरिणोदिता इव ॥११॥
अपहाय भोजतनया पतिव्रता स्वजनं च राज्यमपि रेणुवद् वशी।
विजहार यत्र तप आचरञ्जिनः सक उज्जयन्तगिरिरेष वल्लभे ॥१२॥
सहकार एष खदिरोऽयमर्जुनोऽयमिमौ पलाशवकुलौ सहोद्गतौ।
कुटजावमू सरल एष चम्पको मदिराक्षि! शैलविपिने गवेष्यताम् ॥१३॥
इदमग्र! पश्यसि पुरो विभास्वरं भुवनाधिपस्य विशदं सभागृहम्।
उपदर्शयद्भिरिह भक्तिमात्मनः परमा व्यधायि मुदितैः सुरासुरैः ॥१४॥
वपुरशुभासितसमस्तदिक्तटा शुचिदिव्यभूषणधरा सह प्रियैः।
त्रिजगद्गुरोः सदसि सजिनूपुरा [३] प्रविशन्ति पत्नि! सुरनायिका अमू ॥१५॥
दयिताभ्य उक्तमममी नव पथि दर्शयन्त इति वस्तु नागरा।
सह माधवेन परिवारराजिना सद आमदन् झटिति पारमेश्वरम् ॥१६॥
परिहृत्य वाहनमथ प्रमोदभागवलोकयन्निह विरोधवर्जितान्।
सकलान् पशूनपि सविस्मयं सपरिच्छदोऽविशदसौ सभां विभो ॥१७॥
त्रिदशैर्जिनेशितरि भक्तिमद्भुतां परिदर्शयद्भिरभिवृष्टमुत्तमम्।
शुचिजानुदघ्नमभितः सभागणे वहुवर्णपुष्पनिकरं वहु स्तुवन् ॥१८॥
विदधन्निजश्रवणगोचरं मुदा कलदेवदुन्दुभिनिनादमुच्चकैः।
परमां च तीर्थकरनामकर्मजां जिननायकर्द्धिमभिवर्णयन् मुहुः ॥१९॥
मणिमौक्तिकप्रकरजालभास्वदातपवारणत्रिनयमिन्दुसुन्दरम्।
स ददर्श तत्र शिरसि प्रभोर्धृतं भुवनत्रयाधिपतिताभिसूचकम् ॥२०॥ विशेषकम्
शुचिराजहंसयुगलान्तरालगं स्मितपंकजातमिव सुन्दरं ततः।
चलचामरद्वितयमध्यवर्ति तत् त्रिजगद्गुरोर्वदनमैक्षताच्युतः ॥२१॥
परमां विलोक्य त्रिभुरूपसम्पदं त्रिजगद्गतां शुचिपदार्थसंहतिम्।
बहुशः स्मरन्नपि मनोऽन्तरादराद् उपमानमाप न किमप्यसौ सुधीः ॥२२॥

---

३. यशो मा, वि, मा. शकिनूपुरा.

विशदाशुमन्तमिव तेजसा निधिं शशिविम्बतोऽप्यधिकसौम्यदर्शनम्।
नवमेघवच्छुभगमूर्तिमीश्वर मुरजिन्निरीक्ष्य हृदि पिप्रियेऽधिकम् ॥२३॥
प्रथम विधाय विधिना प्रदक्षिणा गणयन्[४] स्वजन्म सफल च जीवितम्।
अथ माधवो विनयभक्तिवामन[५] प्रणनाम नाथपदपकजद्वयम् ॥२४॥
प्रणमत्सुरेश्वरकिरीटकोटिगानणरत्नघृष्टचरणाम्वुजन्मन. ।
रचितांजलिर्भगवतोऽथ केशव स्तवन विधातुमिति च प्रचक्रमे ॥२५॥
भगवस्तवाननशशाकदर्शनात् प्रथमाभवत्सफलताद्य नेत्रयो ।
उपजायते स्म भुवनत्रयीप्रभो! भववारिधिश्चुलुकमात्र एष. ॥२६॥
अमृत क्षरन्तमिव सौम्यया दृशा करुणाम्वुधिं परमसविदा निधिम्।
भगवन्! भवन्तमवलोकयन्नय परितोपमेति परम जनार्दन ॥२७॥
किल माति विश्वमिदमच्युतोदरे सुखमत्र येति जनगीर्जिनेश्वर।
तव देव! दर्शनजया मुदानया वितथा व्यधाय्यपरिमातयाद्य सा[६]।२८।
विसृजन्ति वैरमिह सर्ववैरिणो जिनपर्षदीति जगतोच्यते प्रभो।
पुरतस्तवैव पुनरान्तरद्विपो भविको निहन्ति तदिद महाद्भुतम् ॥२९॥
भगवन्! विभाति तव पृष्ठगो ह्यसौ नवपल्लव सरसचैत्यपादप. ।
परिवर्त्य रूपमिह सेवनोद्यतो विभुदाननिर्जित इवामरद्रुम. ॥३०॥
नेतर्न[७] ते नेतुमल सुरागना मनो विकार कठिनस्तना अपि ।
शुच्यगहारा पृथुलास्यकान्तय शुच्यगहारा पृथुलास्यकान्तय ॥३१॥
कोटि सुराणा च जघन्यतोऽपि सदैव तिष्ठेत्समया भवन्तम्।
त्वा सेवते य[८] पुनरीश! लक्ष्मीर्भजेत्मुवुद्ध्यासमयाभव तम् ॥३२॥

---

४ यशो मा गणाय

५ यशो मा, वि मा विनयभक्तिमानद

६ महि अनृता व्यधाय्यपरिमातयाद्य सा तव देव! दर्शनजया मुदानया

७ यशो मा, वि मा नेतुर्न

८ वि. मा यत्पुनरीश

पुण्य ! कोपचयद नतावक पुण्यकोपचयद न तावकम् ।
दर्शन जिनप ! यावदीक्ष्यते तावदेत्र गदद्रु स्थतादिकम् ॥३३॥ *
तदनन्तरमामय सम प्रथम मोहरिपु विभिन्धि मे ।
तदनन्त-रमामय मम प्रमया देहि पद कृपामय ॥३४॥ **
तव यशोऽप्सरस· कुलशैलगा जिन । जगुर्मुनिवत्परमाक्षरम् ।
परभृताभरणा सुरस गता परभृताभरणा सुरसगता. ॥३५॥ ‡
स्तवीति यस्त्वा जिनराज ! लक्ष्म्याकरोऽतिकान्त ! प्रतिभाति सारम्।
पुमान् स विश्वे[६] च सरस्वती त करोति कान्तप्रतिभातिसारम् ॥३६॥
अतीतान्तेत एता ते तन्तन्तु तततातितिम् ।
ऋततां ता तु तोतोत्तु तातोऽतता तातोन्ततुत् ॥३७॥एकव्यञ्जन. ॥‡‡

* अत्र टीका—पुण्यमस्यास्तीति सम्बोधनपदम् । कोपस्य चयं वृद्धि द्यति खण्डयतीति तत् । नताना प्रणताना रक्षकम् । पुण्यस्य कस्य सुखस्य चोपचय वर्धन ददातीति तत् ।

** अत्र टीका—प्रथम सम सदृश युगपद्वा । मे आमयमुपताप मोहरिपु च विभिन्धि । तदनन्तर तत प्रमया यथार्थज्ञानेन सम सार्धम् अनन्तया रमया लक्ष्म्या प्रधान तदपूर्वं पद देहि ।

‡ अत्र टीका—पराण्युत्कृष्टानि भृतानि धृतान्याभरणानि मण्डनानि याभिस्ता । सुष्ठु सुन्दर रस भक्तिरस गता. । परभृताना पिकानामा-भस्तुल्यो रण शब्दो यासा ता· । सुरैरमरै सगता सहिता ।

६. यशो मा, वि मा. विश्वेश ।

‡‡ अत्र टीका—अतीतोऽतिक्रान्तोऽन्त सुख दु खादेरसत्त्व येन स., मोक्ष इत्यर्थस्तमित प्राप्त । तता विस्तृता या ता लक्ष्मीस्तस्या-स्तति. समूहस्ताम् । तु पुनस्ते तव ऋततां सत्यता तन्तन्तु पुन पुनरतिशयेन वा तनोतु । तत· अनन्तर । अन्त काल मोहादिक वा तुदति पीडयति य स । न ता लक्ष्मीस्तस्या भावस्ता दरिद्रताम् । ··· ···· तोतोत्तु भृश तुदतु ।

तुद मे ततदम्भत्व त्व भदन्ततमेद तु ।
रक्ष तात विशामीश शमीशाविततक्षर ।।३८।। अनुलोमविलोमात्मक ।‡
लुलल्लीलाकलाकेलिकीला केलिकलाकुलम् ।
लोकालोकाकलकाल कोकिलालिकुलालका ।।३९।।
भवता भवता विश्व नीरागेण वतावता ।
मुक्ता मुक्तालतायुक्ता कान्ता कान्ता जगद्गुरो ।४०। द्व्यक्षरानुप्रास ।*
महामद भवारागहरिं विग्रहहारिणम् ।
प्रमोदजाततारेन श्रेयस्कर महाप्तकम् ।।४१।। **
महाम दम्भवारागहरिं विग्रहहारिणम् ।
प्रमोदजाततारेन श्रेयस्कर महाप्तकम् ।।४२।। ‡‡
इति भक्तिरागवशगेन चेतसा विनुतिं विधाय विरतेऽथ माधवे ।
जिननेमिरारभत धर्मदेशना ममृतोपमा सकलसशयापहाम् ।।४३।।

---

‡ अत्र टीका — ईर्लक्ष्मीस्ता ददातीदस्तस्य सम्बुद्धौ हे ईद । भदन्ततम पूज्यतम । · आ समन्ताद्विततं विस्तृतमक्षर ज्ञान यस्य स तत्सम्बुद्धौ ।

* अत्र टीका—विश्व ससार भवता लभमानेन पुनस्तदवता रक्षता । ·· · केलेः क्रीडाया. कलया आकुल यथा स्यात्तथा । लुलन्ती शोभमाना या लीला तस्या या कला नैपुण्य तस्यास्तया वा केलिषु क्रीडासु कीला वह्निज्वालारूपा ।

** अत्र टीका—महाश्चासावामो रोगस्त द्यति खण्डयतीति स, तम् । भवे ससारेऽरीणा समूहमारमेवाग पर्वतस्तस्मिन् हरिरिन्द्रस्तम् । विग्रहेण हारिणं सुन्दरम् । · ·· प्रमा यथार्थज्ञानानि ता एवोद-जातानि कमलानि तेषु तार प्रौढ इन· सूर्यस्तम् ! आप्त प्राप्त-क सुख यस्तम् । श्रेयस्कर मगलकर्त्तारं मह पूजय ।

‡‡ अत्र टीका—दम्भस्य कपटस्य वारा समूहा एवागा वृक्षास्तेषु हरि पवनस् तम् । · ·· विग्रह कलहस्त हरति नाशयति यस्तम् । ·· ·· प्रकृष्टो मोदस्तस्य जात समूहस्तत्र ताराणामुडूनामिनः स्वामी चन्द्रस्तम् । श्रेयो मगल क सुख च राति ददाति यस्तम् । महाश्चा-सावाप्त ईदृश भगवन्त नेमिजिन महाम पूजयाम. ।

दिवसो यथा नहि विना दिनेश्वर सुकृत विना न च भवेत्तथा सुखम् ।
तदवश्यमेव विदुषा सुखार्थिना सुकृत सदव करणीयमादरात् ॥४४॥
सुकृतात्सदैव वशवर्तिनीन्दिरा सुकृताद्यशासि विसरन्ति[१०] भूतले ।
सुकृताद् भवन्ति सकलार्थसिद्धय सुकृतात्पद परममवाप्यते खलु ॥४५॥
गद आपदिष्टविरहो दरिद्रता विभवक्षयो रिपुपराभव सदा ।
परगेहकर्मकरता दुराधयो भविना भवन्ति भुवि पातकोदयात् ॥४६॥
विघटते स्वजनश्च सुहृज्जनो विघटते च वपुर्विभवोऽपि च ।
विघटते नहि केवलमात्मन सुकृतमत्र परत्र च सचितम् ॥४७॥
इत्यादि नेमीश्वरधर्मदेशना पार भवाब्धेस्त्वरित यियासव. ।
श्रुत्वा व्रत केऽपि जना प्रपेदिरे गृहस्थधर्म मुदिताश्च केचन ॥४८॥
उत्थाय नत्वाथ जिनाधिनाथ- मित्युग्रसेनाङ्गभुवा जगाद ।
प्रसीद कृत्य दिश विश्वनाथ ! विधेहि नित्य सहवासिनी[११] माम् ॥४९॥
ततो जिनेन्द्र करुणार्द्रचित्तो विधाय चारित्ररथाधिरूढाम् ।
ता प्राहिणोत् सिद्धिपुर पुर तद् यियासित[१२] निर्मलमात्मना यत् ॥५०॥
अमितभविकलोक तारयित्वा भवाब्धे
प्रभुरपि सुरभृत्यामार्हतर्द्धि च भुक्त्वा।
परमपदमयासीत्क्षीणनि शेपकर्मा
मिमिलिषुरिव सद्य सौवपूर्वप्रियाया ॥५१॥
तत्रानन्त विगमरहित शाश्वतानन्दरूप,
सौख्य भुक्ते त्रिभुवनगुरुस्तच्छरीरादिमुक्त[१३] ।
पिण्डीभूत मनुजमरुतामप्यशेष समन्तात्,
सौख्य यन्नो तुलयितुमल दूरमुक्तोपमानम् ॥५२॥
काव्याभ्यासनिमित्त श्रीनेमिजिनेन्द्रचरितपरिगतम् ।
श्वेताम्बरेण रचित काव्यमिद कीर्त्तिराजेन ॥५३॥

इति श्रीकीर्तिराजोपाध्यायविरचित-श्रीनेमिनाथमहाकाव्ये द्वादश सर्ग ।

---

१० यशो मा., वि मा. विचरन्ति, ११. यशो मा, वि मा सहचारिणी
१२ वि मा यियासितु १३. यशो मा, वि मा त्रिभुवनगुरुर्यच्छरीरादिमुक्त

नेमिनाथमहाकाव्यम्

हिन्दी अनुवाद

卐

वहाँ धनी लोगो के रत्नो से खचित तथा दधिपिण्डो के कारण सफेद भवन हिमालय के शिशुओ (लघु पर्वतो) के समान लगते थे ।२०।

वहाँ विटो के साथ मैथुन करने से थकी हुई वेश्यायें, जिनके स्तनो से चोली गिर गयी है, साँपिनो की तरह, देखने मात्र से लोगो को विचलित कर देती थी। (सापिने भी सापो के साथ सम्भोग से थक जाती हैं और उनकी केंचुली उतर जाती है) ।२१।

वहाँ युवको के गाढालिंगनो से टूटते हारो वाली नारियाँ, ऊपर गिरते हुए मोती रूपी चावलो से मानो काम का अभिनन्दन करती हैं ।२२।

वहाँ सुन्दर प्रेयसियो के अनुराग को बढाने वाला युवको का परोपकारी पवित्र यौवन, प्रचुर अनाज से भरे तथा सुन्दर बालियो और वृक्षो को उत्पन्न करने वाले खेत के समान था ।२३।

भोगियो (विलासी, सर्प), पुण्यजनो (पवित्र लोग, राक्षस) तथा श्रीदाताओ (दानी, कुवेर के वहाँ रहने के कारण वह श्रेष्ठ नगर पाताल, लङ्का और अलका का सङ्गम-सा बन गया था ।२४।

वहाँ अपनी साध्वी पत्नियो का आलिंगन करने के अभिलाषी युवक, परायी स्त्रियो को गले लगाने को उत्कण्ठित दुष्टो की तरह, असाधारण (उग्र) झगडो से क्रीडा-केलि को दूषित नही करते ।२५।

वहाँ घु घरूओ के शब्द के बहाने लोगो को पुण्य के लिये प्रेरित करती हुई-सी विहारो की ध्वजायें चारो ओर फहराती हैं ।२६।

विविध वस्तुओ से भरी हुई तथा नगरवासियो को विभिन्न प्रकार से आनन्दित करने वाली हाटो की पंक्ति राजद्वार तथा गोपुर तक शोभायमान है ।२७।

वहाँ राजाओं के, बिलौर की भीतो वाले महल ऐसे सुन्दर लगते थे मानो वे चन्द्रमा की किरणों से मिश्रित तथा हिमपिण्डों से निर्मित हो ।२८।

वहां जलरूपी लावण्य से भरी गहरी वर्तुलाकार बावडियाँ कामिनियो की नाभियो के समान सुन्दर लगती थी ।२९।

रग-बिरगे पत्थरो से शोभित उसका गोलाकार परकोटा इस प्रकार सुन्दर लगता था मानो वह पृथ्वी-देवी का कुण्डल हो ।३०।

उसके उद्यान मे कामिनियो के समान कोमल लताएँ, फूलो से लदी हुई भी, वृक्षो का आलिंगन करती थी, यह आश्चर्य की बात है । (स्त्रियाँ रजस्वला होती हुई भी युवको का आलिंगन करती थी) ।३१।

वहाँ दरिद्र लोग कठिनाई से शीतल रात से आकाश छुडवाते थे (ठण्डी रात कष्टपूर्वक बिताते थे) और युवक(प्रथम समागम के समय) बडी कठिनाई से नववधू को अधोवस्त्र खोलने को तैयार करते थे ।३२।

उसके समीप गणिका के समान एक नदी शोभा पाती थी, जिसका जल साप पीते थे तथा जो अपने वेणी-तुल्य जल-प्रवाह से नगरवासियो को मोह लेती थी । (गणिका को विट भोगते हैं और वह अपनी सुन्दर वेणी से नागर जनो को आकर्षित करती है) ।३३।

उस नगर के रमणीय महलो का सौन्दर्य तथा परकोटे की शोभा अपूर्व थी । उसे देख कर कौन सिर नही हिलाता ? ।३४।

वहाँ के राजा समुद्रविजय का नाम यथार्थ था क्योकि उसने समुद्र तक समूचे शत्रुओ को जीत लिया था ।३५।

उसने शत्रुओ की लक्ष्मी के साथ पिता के सिंहासन को ग्रहण किया और उनके (वैरियो के) पराक्रम के साथ याचको की दरिद्रता को हर लिया ।३६।

बाणो से अन्य राजाओ को डराने वाला, स्त्रियो के लिये दर्शनीय तथा युद्ध मे शत्रुओ की निपुणता को हरने वाला वह, सीगो से बैलो को भीत करने वाले, गायो के लिए दर्शनीय प्रचण्ड साण्ड के समान था ।३७।

प्रथम सर्ग

मैं प्रभु नेमिनाथ के उन शोभा-सम्पन्न चरणो को नमस्कार करता हूँ, जिनकी देवताओ के अधिपति (इन्द्र) इस प्रकार सेवा करते थे, जैसे भौरे कमल का सेवन करते हैं ।१।

दुराग्रहो से मुक्त तथा सदा ज्ञानादि समस्त कलाओ से युक्त गुरुदेव, नवीन चन्द्रमा के समान ससार मे चिरकाल तक विजयी रहे ।२।

जो मुनिराज नाना प्रकार के आलिंगन तथा आनन्द देने मे चतुर नारी को छोडकर वैसी (अर्थात् विविध श्लेषालकारो और रसो से समृद्ध) वाणी बोलते हैं, वे पूजनीय क्यो नही ?।३।

उस सज्जन रूपी चन्द्रमा को नमस्कार, जो निर्मल होता हुआ भी स्वय को दोषो की खान कहता है किन्तु (गुणो से) ससार को पवित्र बनाता है। (चन्द्रमा दोषाकर-निशाकर-होकर भी अपनी कान्ति से जगत् को प्रकाशित करता है)।४।

सुख चाहने वाले बुद्धिमान् लोग, सारहीन, पशुओ के भोजन के लिए उपयुक्त तथा तैलरहित खल के समान निस्सार, पशुतुल्य तथा नीरस दुष्ट को दूर से ही छोड देते हैं ।५।

ग्रन्थ के आरम्भ मे सज्जन और असज्जन दोनो को नमस्कार करना चाहिये क्योंकि इन दोनो के मिलने से ही गुणो और दोषो का विवेचन होता है ।६।

कहाँ नेमिप्रभु की स्तुति और कहाँ मेरी यह कुण्ठित बुद्धि ? मैं अज्ञानवश तर्जनी से पर्वत उखाडना चाहता हूँ ।७।

किन्तु गुरु की कृपा से मन्दबुद्धि भी बुद्धिमान् बन जाता है। सिखाने पर तोता, पक्षी होता हुआ भी, मनुष्य की भाषा मे बोलने लगता है ।८।

अथवा प्रभु की भक्ति ही मुझ जडबुद्धि को बरबस मुखर बना रही है, जैसे बादल की गर्जना सुनकर मोर कूकने लगता है ।९।

पृथ्वी के मध्य भाग मे प्रसिद्ध जम्बूद्वीप है, जो नारी की नाभि के समान गम्भीर तथा गोलाकार है ।१०।

आश्चर्य है, वह अनादि तथा अमर होता हुआ भी छह वर्षों (वर्ष पर्वतो) से युक्त है । यद्यपि वह विस्तार में लाख योजन है, तथापि उसमे असख्य लोग रहते हैं ।११।

चारो ओर पास मे लवण-सागर से घिरा हुआ वह ऐसा सुन्दर लगता है, जैसा अपनी परिधि से युक्त वर्तुलाकार चन्द्रमा १२।

उसमे (जम्बूद्वीप मे), आकार मे धनुष के समान भारतवर्ष है, जो, मैं समझता हूँ, अपने सौन्दर्य के अहकार के कारण अचानक टेढा हो गया है ।१३।

चाँदी के वैताढ्य पर्वत से दो भागो मे बटा हुआ वह ऐसे शोभा पाता है जैसे सुन्दर माग मे नारी का सिर ।१४।

गङ्गा और सिन्धु नदियो के योग से उसके छह खण्ड बन गये थे । अथवा स्वच्छन्दता पाकर स्त्रियाँ किसे खण्डित नही कर देती ?।१५।

उसमे अतीव शोभाशाली सूर्यपुर नाम का नगर था, जो मानो पृथ्वी का सर्वस्व हो, जैसे कुलवधू के लिए उसका पति ।१६।

उस नगर मे कोई व्यक्ति मन्द (मूर्ख) नही था, यदि कोई मन्द था, वह था (शनि) ग्रह । न वहाँ पति-पत्नी का वियोग होता था, केवल वन मे वियोग (पक्षियो का मिलन) था ।१७।

वहाँ अन्य शत्रुओ का अभाव होने के कारण केवल (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) आन्तरिक शत्रुओ का वध किया जाता था । राजा के न्यायशील होने के कारण वहाँ धर्मात्माओ का अभ्युदय था ।१८।

वहाँ लोग लज्जा से शरीर अवश्य ढकते थे, परन्तु कोई विकलेन्द्रिय और कुरूप नही था । वहाँ की स्त्रियाँ सदा माला धारण करती थी, उन्हे पीडा कभी नही होती थी ।१९।

समस्त राजलक्ष्मियाँ अन्य राजाओ के राज्यों से उसके पास ऐसे आ गयी जैसे कन्याएँ, विवाह होने पर, पिताओ के घरो से अपने पति के पास आती हैं ।३८।

उसकी शक्ति विभूति के समान थी, कार्य शक्ति के अनुरूप था, प्रसिद्धि कार्य के बराबर थी, कीर्त्ति ख्याति के अनुकूल थी, रूप कीर्त्ति के तुल्य था, अवस्था रूप के समान थी किन्तु बुद्धि उम्र से अधिक थी ।३९-४०।

उस तेजस्वी को विपक्षी कठिनाई से देख सकते थे, किन्तु पक्षधरो (हितैषियो) के लिये वह दर्शनीय ही था । इस प्रकार वह सूर्य के समान था, जिसे चकवे तो देख सकते हैं, उल्लू नही ।४१।

वह राजा पवित्र जैन धर्म को प्राण, धन तथा पत्नी से भी अधिक प्रिय समझता था ।४२।

केवल क्षमा नपु सकता है और केवल प्रचण्डता विवेकहीनता है, अत. वह दोनो के समन्वय से ही कार्य की सफलता मानता था ।४३।

जब वह पृथ्वी की रक्षा कर रहा था तब मेघ समय पर बरसता था, पृथ्वी रत्न उपजाती थी और लोग चिरकाल तक जीवित रहते थे ।४४।

वह कजूसी के कारण नही अपितु मर्यादा के लिये धन का सग्रह करता था और राजनियम के कारण प्रजा से कर लेता था, लोभ से नही ।४५

पृथ्वी का रक्षक, सुन्दर शरीर, विपक्षी सेना के वध तथा विजयी सेना का स्वामी होने के कारण वह देवराज इन्द्र की बराबरी करता था । (इन्द्र स्वर्ग का रक्षक देव, है और बल नामक दैत्य का वधकर्ता तथा इन्द्राणी का पति है) ।४६।

उस राजा ने (अपने राज्य मे) न्यायप्रिय, बुद्धिमान् तथा शास्त्रज्ञो मे अग्रणी मन्त्रियों को नियुक्त किया जैसे अच्छा गुरु प्रतिभाशाली छात्रो को ग्रहण करता है ।४७।

वह अकेला भी समूचे ससार को जीत लेता था, सेना के साथ होने पर तो कहना ही क्या ? शेर अकेला भी बलवान् होता है, कवच पहनने पर तो बात ही क्या ?।४८।

उस प्रचण्ड राजा के अभ्युदय को प्राप्त होने पर (सिंहासनासीन होने पर) अन्य राजा इस प्रकार परास्त हो गये जैसे सूर्य के उदित होने पर नक्षत्रों का तेज नष्ट हो जाता है ।४९।

उस न्यायी के राज्य मे विवाह में पाणिपीडन होता था, नगरवासी करो (टैक्सो) से पीडित नही थे ।५०।

वह तीनो वर्गों (धर्म, अर्थ, काम) की सिद्धि मे, उनमे आपस मे बाधा न डालता हुआ, ऐसे प्रवृत्त हुआ जैसे तीनो लोको के निर्माण की प्रक्रिया मे ब्रह्मा ।५१।

वह वैरी राजाओ के लिये वज्र के समान था किन्तु अपने चरणो के सेवको के लिये कल्पवृक्ष के समान था ।५२।

न्याय और अन्याय का विचार करने मे वह राजा ही चतुर था। पानी और दूध को अलग करने मे हस की ही प्रशसा की जाती है ।५३।

वह समस्त नीतियो से शुद्ध तथा समृद्ध राज्य को इस प्रकार भोगता था, जैसे बराबर स्तनो के युगल से युक्त कामिनी की काया को कामी ।५४।

रूप एव सौन्दर्य से सम्पन्न उसकी शिवादेवी नामक सहधर्मिणी साक्षात् जयलक्ष्मी के समान थी ।५५।

वह कुलीन स्त्रियो मे श्रेष्ठ और पतिव्रताओ मे अग्रणी थी, जैसे बुद्धियों मे पण्डा मति और कलाओ में वाक्कला ।५६।

जैसे गगा अपनी जलधारा से पृथ्वी को पवित्र बनाती है उसी प्रकार उसने शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान (निर्मल) अपने गुणो से धरती को पवित्र कर दिया ।५७।

वह महारानी सुशील थी और वह राजा धर्मात्मा था। उन दोनो के उपयुक्त समागम से विधाता का प्रयास सफल हो गया ।५८।

एक दिन रात को आरामदेह शय्या पर लेटी हुई वह कुछ सो रही थी और कुछ जाग रही थी जैसे सन्ध्या के समय कमलिनी थोडी खिली रहती है और थोडी वन्द हो जाती है ।५९।

उस समय अपराजित नामक विमान से च्युत होकर बाईसवें जिनेन्द्र उसकी कोख मे अवतीर्ण हुए ।६०।

पूर्व जन्म के आहार तथा शरीर को छोड कर और अमरलोक मे चिरकाल तक अलौकिक भोगो को भोग कर प्रभु शुभ योगो से युक्त कार्त्तिक के कृष्णपक्ष की वारहवी रात मे अवतरित हुए ।६१।

स्थूल तारो तथा ग्रहो से परिपूर्ण, ताल और तमाल के समान वर्ण वाली नभ स्थली, रात्रि की मोतियो से भरी वैदूर्य मणियो की डलिया के समान शोभित हो रही थी ।६२।



द्वितीय सर्ग

तत्पश्चात् शिवादेवी ने स्वप्न मे, आकाश से उतरते हुए, स्थूल शरीर वाले एक ऊँचे सफेद हाथी को देखा, जिसके गण्डस्थलो से मद वह रहा, (इस प्रकार) वह झरनों के जल-प्रवाह को धारण करने वाले हिमालय के समान प्रतीत होता था ॥१॥

वर्फ, मोती, हार तथा हस के समान धवल, परिपुष्ट शरीर वाले एक ऊँचे सुन्दर वैल को आते (देखा), जिसकी ढाँठ ऊँची थी और जो मानो चन्द्र-मण्डल से उत्कीर्ण किया गया था ॥२॥

सोने के समान चमकती हुई सुदर अयाल वाले सिंह को (देखा), जिसके विषय मे, आरम्भ मे, आश्चर्यपूर्वक यह अनुमान किया गया था कि क्या यह पीतवस्त्रधारी नारायण है अथवा स्वर्णिम शरीर वाला गरुड़ ? ॥३॥

(हाथियो के द्वारा) स्नान कराई जाती हुई तथा झरते हुए दूध वाले स्थूल स्तनो को धारण करती हुई सुदर लक्ष्मी को (देखा), जो (स्तन) मानों देवताओ की काम-पीड़ा को शान्त करने के लिये विधाता द्वारा रखे गये दो अमृत-घट हो ॥४॥

सुगन्ध के गौरव से उज्ज्वल और लम्बे भौंरो के समूह से व्याप्त पुष्पमाला को (देखा), जो पन्ने के टुकडो से गुम्फित, विलौर की श्वेत अक्ष-माला के समान प्रतीत होती थी ॥५॥

अमृत से परिपूर्ण वर्तुलाकार चन्द्रबिम्ब को (देखा), जिसके मध्य में चमकता हुआ काला चिह्न दिखाई दे रहा था। (इस प्रकार) वह चंद्रकात मणियो का थाल प्रतीत होता था, जिससे पानी झर रहा हो और जिसका मध्य भाग नीलमणियो से सुशोभित हो ॥६॥

आकाशरूपी सरोवर के सारस, असख्य किरणो वाले सूर्य को (देखा) जो मानो कह रहा था कि हे माता ! जैसे मैं प्रचण्ड तेज की निधि हूँ, उसी प्रकार तुम्हारा पुत्र (अज्ञान के) अन्धकार को नष्ट करने वाले तेज (ज्ञान) का भण्डार होगा ॥७॥

कुमुदो के पराग के समान पीले, विभिन्न रगो मे विभक्त, घु घरुओ के मधुर शब्द से गु जित इन्द्रध्वज को (देखा), जो मन्द वायु से हिलते पत्तो से मानो जिनेन्द्र के अवतरण के हर्ष के कारण ऊपर नाच रहा था ॥८॥

फूलो से युक्त हरे पत्तो से शोभित कण्ठ वाले जल से, परिपूर्ण कलश को (देखा), जो चूडामणियो से अलकृत नागो के फणो से व्याप्त एक छोटे निर्मल अमृतकुण्ड के समान था ॥९॥

खिले हुए कमलो से सुशोभित तथा अतीव स्वच्छ जल मे भरे तालाब को (देखा) जो असीम करुणा से परिपूर्ण मुनिराज के निर्मल चित्त के समान था। ॥१०॥

हे माता ! जैसे जल के कारण मेरी थाह नही पाई जा सकती (अर्थात मैं अगाध हूं) उसी प्रकार गुणो से यह तुम्हारा शिशु होगा, मानो यह सूचित करने के लिये चचल तरगो से व्याप्त, प्रकट हुए समुद्र को (देखा) ॥११॥

मानो तीर्थंकर नेमिप्रभु को पृथ्वी पर लाने के लिए आए हुए अपराजित नामक देदीप्यमान विमान को (देखा), जिसका वर्णन करना मनुष्य की वाणी से परे था तथा जिसमे घण्टियो का मधुर शब्द हो रहा था ॥१२॥

अतीव चमकीले रग-विरगे रत्नो की राशि को (देखा),जो मन में यह तर्क पैदा कर रही थी कि क्या यह तारो का समूह है अथवा तीव्र प्रकाश वाले दीपको की पंक्ति ? ॥१३॥

चमकते अंगारो के कणो से युक्त तथा धूसर धुएँ से रहित तेज गर्म आग को (देखा), जो अतीव कान्तिमयी लालमणियो की राशि के समान थी ॥१४॥

दशार्हराज (समुद्रविजय) की पटरानी ने इन श्रेष्ठ स्वप्नो को देखकर मोह की मुद्रा निंद्रा को छोड़ दिया (अर्थात् वह जाग गई) जैसे कमलिनी सूर्य की किरणो का स्पर्श पाकर खिल जाती है ॥१५॥

तब शिवादेवी शय्या से उठकर अपने पति के भवन में गयी जैसे प्रफुल्ल स्वर्णकमल पर रहने वाली लक्ष्मी विष्णु के वक्ष पर जाती है ॥१६॥

नम्र गजगामिनी को प्रसन्न देख कर राजा ने ये सारपूर्ण शब्द कहे—हे कमलनयनि ! आओ, यहाँ बैठो, कहो, तुम्हारे आने का क्या प्रयोजन है ॥१७॥

शरीर की कान्ति से दिशाओ को प्रकाशित करती हुई, चिकने केशो रूपी अजन की वेणी वाली तथा स्नेह से परिपूर्ण वह, राजा के सामने बैठी हुई, उज्जवल दीपिका के समान शोभित हुई। (दीपिका भी अपनी शिखा से दिशाओ को प्रकाशित करती है, चिकने केशो के समान अ जन उसकी वेणी है और वह तैल से भरी रहती है) ॥१८॥

उसने कहा 'हे स्वामी ! सुखदायक शय्या पर लेटे हुए मैंने अब चौदह श्रेष्ठ स्वप्न देखे हैं। मैं आपके मुख रूपी चन्द्रमा से उनके फल रूपी अमृत का पान करना चाहती हूँ'। १९॥

तब बुद्धि का भण्डार राजा वह प्रिया द्वारा कहे गये स्वप्नो को सुनकर उन्हें विचार-मार्ग पर ले गया जैसे उत्तम गुरु शिष्य-मण्डली द्वारा किये गए प्रश्नो को सुनकर उन पर विचार-विमर्श करता है ॥२०॥

तत्पश्चात् वीरबुद्धि राजा ने स्वप्नो के बहुमूल्य फल पर अच्छी तरह विचार करके, अपने मुख-कमल की सुगन्ध से प्रिया के मुख-कमल को सुरभित करते हुए, स्पष्ट अर्थ वाले ये शब्द कहे ॥२१॥

प्रिये ! चौदह स्वप्न देखने के कारण तुम चौदह लोको के स्वामी, प्राणियो के चौदह गणो को अभय देने वाले तथा चारो दिशाओ मे पूजनीय पुत्र को जन्म दोगी ॥२२॥

शैशव को लांघकर अपने भुजदण्ड रूपी सूण्ड से दुष्ट राजाओं के सिंहासनो को उखाडता हुआ, उद्दीप्त गर्व रूपी सेना के कारण दुर्धर्ष वह, हाथी की तरह, शत्रुओ को जीतने वाला बनेगा। (हाथी बचपन को लाघकर भुजदण्ड के समान सूण्ड से दृढ वृक्षो को उखाडता है और मदजल रूपी सेना के कारण दुर्धर्ष होकर गजराज बन जाता है) ॥२३॥

वह तुम्हारा कल्याणकारी श्रेष्ठ पुत्र, अकेला ही, समूचे वीर यादवो को इस प्रकार अलकृत करेगा जैसे अकेला पवित्र यौवन मनुष्य के शरीरके सारे अंगो कोसुशोभित कर देता है ॥२४॥

तुम्हारा पुत्र ज्ञानवान् विद्वानो मे प्रथम, त्यागी राजाओं मे शीर्षस्थानीय, वीर योद्धाओ मे अग्रगण्य तथा यशस्वियो मे प्रमुख होगा ॥२५॥

सुडौल कन्धो की शोभा से युक्त वह अपने असाधारण पराक्रम से अन्य सब राजाओ को डरा कर तथा पृथ्वी को बलपूर्वक जीत कर उसे इस प्रकार भोगेगा जैसे साण्ड अपने अनुपम बल से अन्य बैलो को डरा कर तथा गाय को बरबस वश मे करके उसे भोगता है ॥२६॥

हे कल्याणि ! आज हमारा यदुवश सचमुच परम विभूति का पात्र बन गया है क्योंकि महान् लोगो का जन्म सम्माननीय, योग्य, उन्नत तथा शुभ कुल मे ही देखा जाता है ॥२७॥

सगतार्थ से युक्त राजा की वाणी उपर्युक्त बातें कहने के पश्चात्, कुछ थक कर, मुख-मण्डल रूपी महल के होंठ रूपी किवाड बद करके जिह्वा रूपी आसन पर सुखपूर्वक विश्राम करने लगी (अर्थात् शात हो गयी) ॥२८॥

तब 'तथास्तु' यह कह कर और राजा की अनुमति से अपने भवन मे जाकर प्रसन्न रानी ने, बुरे स्वप्नो के भय के कारण जागते हुए, धर्मकथा आदि कौतुको से रात बिताई ॥२९॥

इसके बाद रानी ने रात्रि, रूपी स्त्री के द्वारा मोहवश अन्धकार रूपी अंजन से लीपे गये दिक्कुमारियो के मुखो को सूर्य की किरणो के जल से धोते हुए प्रभात को, अपने पुत्र के समान, देखा(शिशु के मैलेअंग भी धोने से स्वच्छ हो जाते हैं) ॥३०॥

जिसके आने पर श्रेष्ठ पुरुष नित्य प्रति विलास-शय्याओ से उठ जाते हैं। अतिथियो की सेवाविधि को जानने वाले सचमुच कही भी औचित्य को नही छोडते ॥३१॥

जिसमे आभाहीन हुई किरणो वाला चन्द्रमा ज्यो ही अस्ताचल की चोटी पर पहुँचा त्यो ही कुमुदिनी का मुख मलिन हो गया (वह मुरझा गयी), इससे कुलागनाओ का चरित्र स्पष्ट है ॥३२॥

यदि रात्रि को भोगने की थकावट से चन्द्रमा की शोभा प्रभात के समय क्षीण होती है, वह तो उचित है किंतु सप्तर्षियो ने क्या अपराध किया कि वे भी निष्प्रभ हो गये ॥३३॥

जिसमे कान्तिहीन नक्षत्रमाला से युक्त आकाश ने अपनी शोभा से, असख्य वन्द कुमुदो से भरे नीले जल के तालाव की शोभा का अनुकरण किया ॥३४॥

जब (प्रात:काल) रात्रि प्राणप्रिय चद्रमा के अस्त होने के तीव्र शोक के कारण नाना नक्षत्रो से युक्त लाल आकाश को इस प्रकार छोड देती है जैसे चांद के समान सुदर नारी अपने मृत पति के घने दुख से वेल-वूटो से सुशोभित (सौभाग्य-सूचक) वढिया लाल वस्त्र त्याग देती है ॥३५॥

जब अपने पतियो से प्रेम करने वाली पवित्र साध्वी नारियाँ, जिनके गहने और वस्त्र सोने से ढीले होगये हैं, मानो सूर्य की किरणो (हाथो) के स्पर्श के भय से, हडवडा कर अपना शरीर ढक लेती हैं ॥३६॥

जिसमें जैन जिन का, वौद्ध वुद्ध का, शैव शिव का, साख्य के अनुयायी कपिल का, ब्राह्मण ब्रह्मा का ध्यान करते हैं, किन्तु नास्तिक किसी देवता का नही ॥३७॥

जिसमे राजा और नैयायिक अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये, दूसरों द्वारा सस्थापित प्रवल साधन (सेना, अनुमान) को अपने प्रयोगो (कार्यों, अनुमान) से शान्त करना चाहते हैं ॥३८॥

जव प्रफुल्ल कुमुदो रूपी सुन्दर आँखो वाली रात्रि, जिसमे आकाश नक्षत्र रूपी मोतियो से सुशोभित होता है, दूसरे द्वीप मे गये (अस्त) हुए चन्द्रमा का अनुगमन करती है (अर्थात् उसके साथ स्वय भी समाप्त हो जाती है) जैसे नक्षत्र-तुल्य मोतियो से सजे वस्त्रो वाली तथा विकसित कुमुदो के समान कमनीय आंखो वाली साध्वी नारी परलोक मे गए (मृत) पति का (चिता मे जलकर) अनुमरण करती है ॥३९॥

जब सूर्य को उदित हुआ देखकर उल्लू आँखे मीच कर कोटरो मे छिप जाते हैं। दूसरो की विभूति को देखने मे असमर्थ नीच लोग अपना मुँह सदा नीचे झुका कर रखते हैं ॥४०॥

उस समय मुनियो ने अपना मन ध्यान में लगाया, सूर्य ने अन्धकार को दूर कर दिया, श्वेत कुमुद बन्द हो गया और सूर्यकान्त मणियाँ चमकने लगी ॥४१॥

जब अपनी प्रेयसी कमलिनी के मुँह को उडते हुए भौंरो के द्वारा चूमा जाता देखकर सूर्य ने, मानो क्रोध से लाल होकर, अपने कठोर पावो (किरणो) से उसके सिर पर प्रहार किया ॥४२॥

जिसमे कमलिनी, सूर्य द्वारा अपने चरणो से मसली जाती हुई भी, पूरी तरह खिल उठी। सच्चा प्रेम वही है, जिसके वशीभूत हुआ मनुष्य दुख को भी सुख ही समझता है ॥४३॥

उस समय सूर्य उदित होकर, अपनी किरणों को रोकने वाले वृक्षो की भी सघन छाया को चारो ओर फैला देता है क्योंकि सज्जन वैरियो का भी भला करते हैं॥४४॥

जब अन्धकार का विनाश करता हुआ भी सूर्य मुनिजनो के साथ समानता प्राप्त नही कर सका। एक (सूर्य) प्रभा-पुंज से युक्त है और दूसरा (मुनि) भाव रूपी शत्रुओ से मुक्त होने के कारण प्रसिद्ध है ॥३५॥

उस समय पाप से उत्पन्न मलिनता को शुद्ध करने मे निपुण, पाप और पुण्य का विचार करने मे समर्थ तथा योग मे लीन दृष्टि वाले ऋषि, ग्रहो के अतिचार तीव्र-मन्द आदि गति) को ठीक करने मे कुशल, शुभाशुभ राशियो पर विचार करने मे सक्षम तथा ग्रहों के योगो मे अनेक प्रकार से व्यस्त दृष्टि वाले ज्योतिषियो के समान प्रतीत हुए ॥४६॥

जब प्रमोदी चकवो से युक्त नदियो मे घूमने वाली हंसो की नयी स्त्रियाँ सुगन्धित कमलो की नाल का कलेवा करती हैं ॥४७॥

चकवी को सुख देने वाले पूर्ववर्णित प्रभात को देखकर चतुर मागधो ने राजा को जगाने के लिए चन्दन के समान शीतल ये शब्द कहे ॥४८॥

राजन् ! प्रभात के समय सहमा कान्तिहीन हुआ यह चन्द्रमा लक्ष्मी की चपलता को स्पष्ट प्रकट कर रहा है। अत नीद छोडो, जागो, जिनेन्द्र का स्मरण करो तथा प्रात कालीन नित्य कर्म करो ॥४६॥

महाराज ! अब सूर्य की किरणो रूपी बाणो से छिन्न-भिन्न हुआ तुम्हारे शत्रुमण्डल के समान अन्धकार भाग कर दिशाओ मे छिप रहा है। बलवान् द्वारा पीडित कायर की और क्या गति है ?॥५०॥

राजन् ! सिन्दूर, अनार तथा जपा के फूल के समान प्रभा वाले नवोदित सूर्य तथा आपके तेज द्वारा पृथ्वी के समस्त पदार्थों को तुरन्त लाल बना देने पर श्वेत कैलास पर्वत भी कुकुम के समान लाल हो गया है ॥५१॥

राजन् ! स्वामी का विनाश होने पर पहले उसका परिवार नष्ट हो जाता है और उसका उदय होने पर वह भी अभ्युदय को निश्चित प्राप्त होता है। इसीलिए प्रभात के समय रात्रि और उसका स्वामी चन्द्रमा नष्ट हो गये हैं और दिन तथा उसका अधिपति सूर्य उदित हो गये हैं ॥५२॥

राजन् ! ताजा खिले हुए कमलो के मधु-बिन्दुओ का सग्रह करने का लोभी यह भौंरा, अति प्रेम के कारण कमलवन की गोद मे इस प्रकार गिर रहा है जैसे प्रेमी की दृष्टि प्रेयसी के मुँह पर पडती है ॥५३॥

महाराज ! यह मदान्ध हाथी रात भर देर तक नीद का सुख लेकर (अब) करवट बदल कर शृखला का शब्द करता हुआ, जाग कर भी, अलसाई आँखो को नही खोल रहा है ॥५४॥

हे राजेन्द्र ! अश्वपाल, तुम्हारे अस्तबल मे हिनहिनाते हुए, गति में वायु को भी मात करने वाले बलशाली घोडो को खाण्ड के समान उज्ज्वल नमक के टुकडे दे रहे हैं ॥५५॥

राजन्। तुम्हारे सुन्दर भवन के द्वार पर तथा समस्त देवालयों में जयमगल की सूचक ये सैकडो प्रभातकालीन तुरहियाँ बज रही हैं ॥५६॥

राजन्! चकवे किसी प्रकार रात बिताकर अब अपनी प्रियाओ को पाकर उनके साथ प्रसन्नता से नाच रहे हैं ॥५७॥

तोता आकाश मे उड रहा है। कभी वह आम के फलो मे छिप जाता है, भूख से पीडित होने पर चुपचाप बैठ जाता है, फिर हर्षपूर्वक अपनी प्रिया के गले लगता है ॥५८॥

हे श्रेष्ठ नृप। नगर, सरोवर तथा तालवृक्ष पर रहने वाले, सुन्दर एव शीघ्र गति से चलने वाले हस कमलनाल खाने की इच्छा से हसियो के साथ वन मे चले गये हैं ॥५९॥

राजन्! नाना प्रकार के पके हुए अन्न खाकर अस्पष्ट शब्द करती हुई पक्षियो की पक्तियाँ, धनवानो की कन्याओ की तरह निर्मल जल ला रही हैं (कन्याएँ मिष्टान्न लाती हैं) ॥६०॥

महाराज! उदयाचल की चोटी पर स्थित, मूँगे और टेसू की प्रभा वाला सूर्य अब पूर्व दिशा रूपी नारी के माथे पर लगे कुंकुम के तिलक के समान शोभा पा रहा है।

मागधो के पूर्वोक्त मनोहारी तथा हितकारी वचन सुनकर सत्यवादी यादवराज समुद्रविजय निद्रा छोडकर टूटी मालाओ से युक्त बिस्तरे से उठ गये ॥६२॥



तृतीय सर्ग

तत्पश्चात् प्रात. कालीन कार्यों को समाप्त करके राजा, सावधान होकर मन्त्रियों के साथ, सभा-भवन मे सिंहासन पर ऐसे बैठ गया जैसे शेर पर्वत की सुन्दर चोटी पर बैठता है ॥१॥

सोने के सिंहासन पर बैठे हुए उसने, जिसके सिर के ऊपर ऊँचा छत्र गर्मी दूर कर रहा था, कल्पवृक्ष के नीचे हिमालय की शिला पर स्थित इन्द्र की शोभा को मात कर दिया ॥२॥

हिलती हुई चवरियों के बीच उसका प्रसन्न मुख इस प्रकार शोभित हुआ जैसे दो हस-शिशुओं के मध्य खिला स्वर्ण कमल ॥३॥

उसका रूप स्वभाव से ही कमनीय था, सिंहासन पर बैठने से वह और सुन्दर बन गया। इन्द्रनीलमणि अकेली ही मनोहर होती है, उसे सोने मे जड़ने पर तो कहना ही क्या ? ॥४॥

सामन्त राजाओं ने मणिजटित चौकी पर रखे उसके पूजनीय चरणो को अपने सिरो से, जिनसे चूडामणियाँ गिर रही थी, एक साथ प्रणाम किया ॥५॥

राजा ने निर्मल चन्द्रमा के समान मुख वाले अपने जिस-जिस सेवक को दृष्टि मे देखा, हर्ष रूपी लक्ष्मी ने उस-उस का ऐसे आलिंगन किया जैसे कामविह्वल कामिनी-अपने पति का ॥६॥

पान के पत्तो से लाल होठों वाली, इच्छानुगामिनी तथा शुभ्रवेशधारिणी सभा रूपी वधू ने नीति और विनय के पात्र उस राजा की, पति के रूप मे, कामना की ॥७॥

हिम के समान उज्ज्वल वस्त्रो से विभूषित तथा अथाह सेना के कारण दुर्द्धर्ष उस राजा ने, जिसका शरीर लालो और मोतियो से चमक रहा था, तब हिमालय के सौन्दर्य को धारण किया। (हिमालय की भूमि माणिक्यो

तथा मुक्तामणियों से दीपित है, वह हिम के वस्त्र से सुशोभित है तथा अपनी दुर्गम घाटियों के कारण अगम्य है) ॥८॥

प्रमुख मन्त्रियों से घिरा हुआ वह ऐसे शोभित हुआ जैसे अपने झुण्ड के हाथियों से यूथ का स्वामी (गजराज), तारों के समूह से शरत् का चन्द्रमा और घने आम्र वृक्षों से कल्पतरु ॥९॥

उस अग्रणी राजा ने जानकार लोगों द्वारा कही जाती हुई, अनिर्वचनीय आनन्द से परिपूर्ण कथा रूपी अमृत का अपने कर्णपुटों से तत्परतापूर्वक पान किया ॥१०॥

इसके बाद राजा ने अपने सेवकों को स्वप्नों पर विचार करने में कुशल व्यक्तियों को बुलाने के लिए आदेश दिया। निमन्त्रण पाकर वे भी राजा को आशीर्वाद देते हुए वहाँ उपस्थित हुए ॥११॥

प्रिये ! देवता कौन हैं ? वृषभ। अरी, क्या बैल ? नहीं, वृषभध्वज। क्या शंकर ? नहीं, चक्रवर्ती जिन। इस प्रकार पति-पत्नी द्वारा हास्यपूर्वक कहे गए जिनेन्द्र आपको प्रसन्न करें ॥१२॥

वह युगादि देव ऋषभ आपकी लक्ष्मी की रक्षा करे, जिसने पहले साम्राज्यलक्ष्मी को भोगा, तत्पश्चात् चारित्रलक्ष्मी को और फिर केवल-ज्ञान रूपी लक्ष्मी को प्राप्त किया ॥१३॥

अन्धकार (अज्ञान) की राशि को नष्ट करने वाली तथा चारों ओर अर्थतत्त्व को प्रकाशित करने वाली शास्त्ररूपी मणि को, रात्रि के समय वणिक् की अट्टालिका पर (रखे) दीपक के समान, हृदय-कमल में धारण करते हुए, स्नात, प्रशमनीय, शास्त्रज्ञ, कृतज्ञ तथा श्वेत एवं निर्मल वस्त्र पहने हुए स्वप्नज्ञ लोग, राजा की आज्ञा से, सामने रखे उत्तम आसनों पर बैठ गये ॥१४-१५॥

राजा ने नाना प्रकार के पवित्र फलों, मालाओं तथा वस्त्रों से उनकी पूजा की (उन्हें सम्मानित किया) क्योंकि ज्योतिषी फल देखकर ही प्रश्न करने वाले को उसका फल बतलाते हैं ॥१६॥

उसने उन ज्योतिषियो को इस प्रकार कहा—आज आधी रात के समय रानी ने गज आदि चौदह स्वप्न देखे हैं। बतलाओ, उनका क्या फल होगा ? ॥१७॥

पहले उन चतुर ज्योतिषियो ने राजा द्वारा बताए गये उत्तम स्वप्नो पर आपस मे विचार-विमर्श किया, फिर इस प्रकार कहा क्योकि बुद्धिमान लोग विचार कर ही बात कहते हैं ॥१८॥

राजन् ! ये शुभ तथा उत्तम स्वप्न वृद्धि के सूचक हैं। हम इनका फल बतलाने में असमर्थ हैं क्योकि इस विषय मे बृहस्पति की वाणी भी जड है ॥१९॥

फिर भी हम शास्त्र के अनुसार इन पर कुछ विचार करते हैं। क्या अन्धा भी आँखो वाले का हाथ पकड़ कर ठीक रास्ते पर नही चलता ? ।२०।

हे यादवराज ! इसलिए सुनो, जो स्त्री इन स्वप्नो को देखती है, उसकी कोख रूपी कमल के अन्दर ब्रह्मा की भाँति चक्री अथवा जिन अवतीर्ण होता है ॥२१॥

राजन् ! शास्त्र के अनुसार तथा अपनी बुद्धि के सामर्थ्य से हमने यह विचार किया है (अर्थात् हमारा यह विचार है) कि देवी के उदर मे जिनेन्द्र अवतरित हुए हैं, जैसे सुमेरु पर्वत के कुंज मे कल्पवृक्ष ॥२२॥

चौसठ देवाधिपति इन्द्र, नौकरो की तरह, सहर्ष उसकी सेवा करेंगे। अन्न-जल-भोजी बेचारे अन्य राजाओ की तो वहाँ गिनती क्या ? ॥२३॥

हे स्वामिन् ! साढे आठ दिन सहित नौ शुभ मास बीतने पर रानी, तीनो लोको द्वारा पूजनीय पवित्र पुत्र को जन्म देगी ॥२४॥

ज्योतिषियो के वे हृदयग्राही निर्भ्रान्त (स्पष्ट) वचन सुनकर राजा ने, महान् हर्ष से दूना होते हुए, बार-बार 'तथास्तु' कहा ॥२५॥

इसके बाद धनवान् राजा उन विद्वान् ज्योतिषियो को जीवन-पर्यन्त धन देता रहा, जैसे कल्पवृक्ष मनुष्यो को, और निधियो की राशि चक्रवर्तियो को ॥२६॥

तब स्वप्नफल के ज्ञाताओं ने प्रसन्न होकर उत्तम आशीर्वादों से राजा का अभिनन्दन किया। क्या कुलीन नीतिवेत्ता कहीं आचार के मार्ग का उल्लंघन करते हैं ?॥२७॥

राजा द्वारा विदा किए गये वे श्रेष्ठ ज्योतिषी प्रसन्न होकर अपने घरों को गये। राजा भी सिंहासन से उठकर रानी के पास चला गया ॥२८॥

प्रेमविह्वल राजा ने विद्वान ज्योतिषियों द्वारा कहा गया स्वप्नों का वह शुभ फल अपनी प्राणप्रिया को एकान्त में बताया क्योंकि प्रिय बात प्रिय व्यक्ति को कहनी चाहिए। ॥२९॥

उसी दिन से यादवराज की पत्नी ने इस प्रकार गर्भ धारण किया जैसे मन्दर पर्वत की गुफा कल्पवृक्ष को और रोहणपर्वत की भूमि रत्नराशि को धारण करती है ॥३०॥

प्रयत्नपूर्वक गर्भ का पोषण करती हुई यादवराज की पत्नी आराम से बैठती है, आराम से सोती है, आराम से रुकती है, आराम से चलती है, और स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन करती है ॥३१॥

'यह लज्जा के कारण मुझे अपनी इच्छा नहीं बतलाती' इसलिए कोमल चित्त राजा बहुत आदर के साथ उसकी सखियों से पूछता था कि यह किन-किन वस्तुओं को चाहती है ॥३२॥

रानी का जो दोहद उत्पन्न होता था, वह तत्काल ही पूर्ण हो जाता था। पुण्यशाली लोगों का अभीष्ट मनोरथ कहाँ पूरा नहीं होता ? ॥३३॥

जो राजा पहले दुर्जय थे अथवा जो उसके सामने नहीं झुकते थे, भगवान् के गर्भ में आने पर वे भी तुरन्त दशार्हराज की सेवा ऐसे करने लगे जैसे श्रद्धालु शिष्य गुरु की ॥३४॥

तब समय पर रानी शिवादेवी से, चमचमाते प्रभामण्डल से विभूषित तथा संतुलित अंगों वाला पुत्र उत्पन्न हुआ जैसे सुधर्मा सभा रूपी जन्म-शय्या से देवराज इन्द्र प्रकट होता है ॥३५॥

ससार के लोगो के आनन्द तथा कल्याण के हेतु, तीनो लोको के कष्ट रूपी समुद्र के सेतु, यदुवश के ध्वज, शख चिह्नधारी प्रभु नेमिनाथ ने ससार को पवित्र कर दिया ॥३६॥

उस समय नरक के प्राणियो को भी क्षण भर के लिये अपूर्व सुख प्राप्त हुआ। ससार को पवित्र करने वाला महात्माओ का जन्म किसे सुख देने वाला नही होता ! ॥३७॥

दशो दिशाएँ तुरन्त निर्मल हो गयी, समूचे जीवलोक मे प्रकाश भर गया, धूल से रहित अनुकूल पवन चलने लगी और पृथ्वी से विपत्ति एव दरिद्रता का दुख नष्ट हो गया ॥३८॥

तब राजाओ के शिरोमणि समुद्रविजय के भवन ने, जो फैलती हुई किरणो से युक्त शरीर वाले जिन रूपी सूर्य से सुन्दर था तथा जो मरकत-मणियो और अगणित रत्नो से युक्त था, उदयाचल की शोभा को प्राप्त किया करे ॥३९॥



चतुर्थ सर्ग

तत्पश्चात् समस्त दिक्कुमारियो के आसन इस प्रकार एक साथ हिलने लगे जैसे वायु से प्रताडित वृक्ष हर जगह हिलने लगते हैं ॥१॥

तब उन्हे अवधिज्ञान के प्रयोग से प्रभु का जन्म ज्ञात हुआ जैसे रानियाँ गुप्तचर भेज कर देश का समाचार जान लेती हैं ॥२॥

इसके बाद आठ दिक्कुमारियाँ ऊर्ध्वलोक से शिवा के प्रसूतिगृह मे आईं जैसे भवरियाँ वृक्ष से कमल पर आती हैं । हारो रूपी पुष्पावलियो से सुशोभित, स्थूल स्तनो रूपी फलो से युक्त तथा रेशमी वस्त्रो रूपी पत्तो वाली वे गतिशील (चलती-फिरती) काम-लताओं के समान प्रतीत होती थी । अचानक हर्ष से उनकी आँखे फैल गयी थी, वे मालाओ से भूषित थी, उन्होने उज्ज्वल वस्त्र पहन रखे थे और वे नीतिज्ञ देवताओ के योग्य थी । उन्होने कानो की कान्ति से परिपूर्ण मणियो के कुण्डल धारण किये हुए थे, जो उनके मुँह को देखने के लिये एक-साथ आए सूर्य और चन्द्रमा के समान प्रतीत होते थे । वे दिक्कुमारियाँ होती हुई भी रस मे लीन थीं, विलासी होती हुई भी भ्रान्ति से रहित थी, सुन्दर होती हुई भी कुटिल नही थी और अलकृत होती हुई भी भूषणो से रहित थी (पृथ्वी लोक मे नही रहती थी—न भुवि उषिता) । वे भगवान् के जन्म से उत्पन्न प्रसन्नता को, जो मानो उनके हृदयो मे नही समा रही थी, प्रभामण्डल के बहाने बाहर शरीर पर भी धारण कर रही थी ॥३-८॥

उन्होने जगत् के स्वामी नेमिप्रभु तथा माता शिवादेवी की तीन परिक्रमाएँ करके और उन्हे प्रणाम करके आनन्दपूर्वक ये प्रशसनीय वचन कहे ॥९॥

देवताओं, देवेन्द्रो तथा राजाओ द्वारा पूजित चरणो वाले हे प्रभु ! तुम्हारी जय हो । ससार को आनन्दित करने वाले पुत्र की माता हे शिवादेवी ! तुम्हे नमस्कार ॥१०॥

गौरी के पुत्र (गणेश का पेट लम्बा है, लक्ष्मी का पुत्र (काम शरीर हीन है । हे सुन्दर शरीर वाले पुत्र की माता ! तुम्हारी तुलना किसके साथ की जाय ? ॥११॥

कल्पलता सदा अज्ञान को जन्म देती है । सर्वज्ञ को जन्म देने वाली हे माता ! उससे तुम्हारी तुलना कैसे की जा सकती है ? ॥१२॥

आज स्त्री जाति, जिससे समस्त गुणो के भण्डार जगत्प्रभु का जन्म हुआ है, निन्दनीय होती हुई भी तीनो लोको मे प्रशसा के योग्य बन गयी है ॥१३॥

हे माता ! यह तुम्हारा पुत्र पुरुषो मे सर्वोत्तम है । क्या सुमेरु पर्वत के वनो में सभी वृक्ष कल्पवृक्ष होते हैं ? ॥१४॥

हे देवि । तुम डरो मत । जिनेश्वर का जन्म हुआ जानकर हम दिक्‌-कुमारियाँ उनका सूतिकर्म करने के लिये आई हैं ॥१५॥

इस प्रकार अपना परिचय देकर उन्होंने प्रसूतिगृह के चारो ओर एक योजन तक सर्वत वायु से अपवित्र कणो को दूर कर दिया ॥१६॥

फिर वे जादू की तरह तुरन्त सवर्त वायु को रोक कर जिनेन्द्र और माता का गुणगान करती हुई, वहाँ (सूतिगृह मे) बैठ गयी ॥१७॥

पाताललोक से भी आठ दिक्कुमारियाँ प्रसूतिगृह मे आइं । उनके जघनो पर करधनी के घुघरूओ का शब्द हो रहा था, वक्ष पर मालाएं हिल रही थी, वे रत्नो के आभूषणों से विभूषित थी और ऐसी लगती थी मानो साक्षात् कल्पलताएं ही उनके रूप मे परिवर्तित हो गयी हो ॥१८-१९॥

इन्होने भी पहले की तरह अपना परिचय देकर मनोहर दुर्दिन पैदा करने वाले मेघ को ऐसे ऊपर फैला दिया जैसे दीपिकाएँ ऊपर की ओर कालिमा फैलाती है ॥२०॥

बादल ने पृथ्वी पर एक योजन तक सुगन्धित जल बरसा कर धूलि और गर्मी को इस प्रकार शान्त कर दिया जैसे सूर्य अन्धकार और कोहरे को दूर कर देता है ॥२१॥

तब कुमारियो ने, वायु से हिलाई गयी प्रफुल्लित पुष्पवाटिकाओ की तरह पाच रग के फूलो की वर्षा की ॥२२॥

उन फूलो ने, गिरकर भी, पृथ्वी को सुगन्धित किया। निश्चय ही पवित्रात्मा व्यक्ति विपत्ति मे भी दूसरो का उपकार करते हैं ॥२३॥

उस समय वहाँ (सूतिगृह मे) फूलो के ऊपर मडराते हुए भौंरे नीले उत्तरीय की शोभा का अनुकरण कर रहे थे ॥२४॥

भौरो ने अपनी गूँज के बहाने प्रभु के गुणो का गान किया और फूलों ने मकरन्द के मिस उन्हे पान दिया ॥२५॥

उन फूलो ने अपनी सुगन्ध से दिशाओ को सुगन्धित कर दिया। ससार मे सज्जनो के गुणो का एकमात्र फल निश्चय ही परोपकार है ॥२६॥

अपने योग्य स्थान पर बैठी हुई उन्होंने अलौकिक शक्ति से फूलों और पानी की वर्षा को रोक कर प्रभु का गुणगान किया ॥२७॥

तत्पश्चात् रुचक पर्वत की पूर्व दिशा से आठ दिक्कुमारियाँ यादवराज के महल मे आयी जैसे पर्वत से नदियाँ समुद्र मे आती हैं ॥२८॥

पहले की भाँति उन्होने वाणी से जिनेन्द्र तथा माता की स्तुति की और शीश झुकाकर उन्हे नमस्कार किया। कौन बुद्धिमान् भवसागर से मुक्त करने वाले कल्याणकारी व्यक्ति की स्तुति और वन्दना नही करता ॥२९॥

तत्पश्चात् उन्होंने पूर्व दिशा मे बैठकर तथा हाथो मे मनोहर दर्पण लेकर भगवान् के विपुल तथा निर्मल यश का एक साथ प्रसन्नता-पूर्वक गान किया ॥३०॥

तब कुछ समय बाद कमल के कोमल कोश के सदृश घने स्तनो से शोभित आठ कुमारियाँ रुचक पर्वत की दक्षिण दिशा से वहाँ आई ॥३१॥

मधुर रस मे लीन वे जिनेश्वर को नमस्कार करके दक्षिण दिशा मे बैठ गयीं और हाथो मे कमल रूपी स्वर्ण लेकर उन्होंने प्रभु के समूचे शुभ्र (निष्कलक) यश का गान किया ॥३२॥

रस्सी मे बधी मृगियो के समान प्रभु के पुण्यो से आकर्षित हुई आठ कन्याएँ रुचक पर्वत के पश्चिम से आकर तुरन्त सूतिगृह मे अवतीर्ण हुई ॥३३॥

चचल कानो वाली दिशाओ की हथिनियो के समान अपने करकमलो से पखे हिलाती हुई वे कुमारियाँ अपना परिचय देकर तथा प्रभु को नमस्कार करके पश्चिम दिशा मे बैठ गयी ॥३४॥

हाथो मे चवर लिए हुए जो प्रसन्न दिक्कुमारियाँ रुचक पर्वत के उत्तर मे आई थी वे उत्तर दिशा मे बैठ गयी, मानो वे शरीरधारी आठ सिद्धियाँ हो ॥३५॥

जो चार सुन्दरांगी कुमारियाँ रुचक के दिशाकोणो से आई थी, उन्होने भी, हर्षातिरेक से दूनी होकर, जिनेन्द्र और शिवा की वन्दना की ॥३६॥

दिशाकोणो मे स्थित वे हाथों मे दीप लेकर गीत गाती हुई ऐसे शोभित हुईं मानो चारो दिशाकोण ही उनका रूप धारण करके जिनेन्द्र की उपासना करने के लिये आए हों ॥३७॥

इसी प्रकार रुचक पर्वत के मध्य रहने वाली जो चार चतुर कुमारियाँ आयी थी, उन्होंने आदर पूर्वक जिनेश्वर की माता को अपना परिचय देकर प्रभु का नाल काटा ॥३८॥

उन्होंने प्रसूति-गृह से पूर्व, उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं में तीन पवित्र कदलीगृह बनाकर उनके अन्दर एक चौकोर सिंहासन रखा ॥३९॥

कदलीगृह के भीतर, फैलती हुई किरणों से व्याप्त वह रत्नों का सिंहासन इस प्रकार शोभित हुआ जैसे कमल के कोमल पत्तों से ढके स्वच्छ जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब ॥४०॥

प्रभु को दोनों हाथों में लेकर तथा शिवादेवी को बाँह का सहारा देकर विधि की ज्ञाता वे कुमारियाँ उन्हें पहले दक्षिण दिशा के कदलीगृह में ले गयी ॥४१॥

वहाँ जिनेश्वर तथा जिन माता को सिंहासन पर बैठाकर तथा उनकी मालिश करके उन्होंने, दासियों की तरह, अद्‌भुत द्रव्यों से उन दोनों के शरीर पर लेप किया ॥४२॥

फिर पूर्व दिशा के कदलीगृह में ले जाकर उन देवियों ने नहलाने योग्य उन दोनों को पवित्र जल से स्नान कराया। देवता भी अधिक पुण्यशाली लोगों के सेवक होते हैं ॥४३॥

तत्पश्चात् कन्याओं ने उनके शरीर पर चन्दन और काफूर का लेप किया। यह बहुत आश्चर्य की बात है कि उनका भी (कुमारियों का) सारा सन्ताप नष्ट हो गया ॥४४॥

इसके बाद कुमारियों ने तीर्थंकर और उनकी माता को कोमल वस्त्र पहना कर उन्हें निर्मल भूषणों से सजाया जैसे देवबालाएँ दो कल्पलताओं को सजाती हैं ॥४५॥

वे आभूषण संसार के भूषण प्रभु को पाकर शोभा से चमक उठे। निश्चय ही गुणवान् की संगति परम समृद्धि का कारण होती है ॥४६॥

रमणीय आकृति वाली शिवा अलौकिक भूषण पहनकर और अधिक सुन्दर लगने लगी। नीलमणि, अकेली ही, सुन्दर है, सोने में जड़े जाने पर तो कहना ही क्या ? ॥४७॥

तत्पश्चात् देवियाँ शिवा को पुत्र-सहित उत्तर दिशा के भवन मे ले गयी जैसे सद्गुरु के वचन धर्मशास्त्र से युक्त (पुष्ट) बुद्धि को शिष्य के मानस मे ले जाते हैं ॥४८॥

फिर उन्होंने उन दोनो की रक्षा के लिये, देवता रूपी सैनिकों द्वारा क्षुद्र हिमालय से लायी गई चन्दन की लकडियो को आग मे जलाकर राख की पोटली बनाई ॥४९॥

तालवृक्ष के समान विशाल तथा चन्द्रमा के सदृश निर्मल पत्थर के दो गोलो को आपस में रगडते हुए कुमारियो ने प्रभु के कान मे कहा कि आप पर्वत की भाँति चिरायु होंगे ॥५०॥

तीनो लोको की रक्षा मे तत्पर तथा तीनो लोको का कल्याण करने वाले प्रभु का जो मांगलिक आशीर्वचन तथा रक्षाबन्धन था, वह उनकी (दिक्कन्याओ की) स्वामिभक्ति का क्रम ही था ॥५१॥

काफूर, कालागुरु तथा धूप से धुमैले और अत्यधिक सुशोभित शय्या से युक्त सूतिकागृह में जिनेन्द्र तथा माता को लेटा कर वे इस प्रकार प्रभु के गुण गाने लगीं ॥५२॥

समस्त पवित्र सतियो की शिरोमणि माता शिवा, पन्ने और नीलमणि के समान शरीर की कान्ति से सम्पन्न श्रेष्ठ पुत्र के साथ ऐसे शोभित हुई जैसे वसन्त से सजी पुष्पवाटिका, सत्यज्ञान से युक्त क्रिया, निर्मल विवेक के साथ लक्ष्मी, सूर्य से युक्त पूर्व दिशा, नीलमणि से जडी अगूठी, नये मेघ से शोभित आकाश, भौंरे से युक्त स्वर्णकेतकी और स्निग्ध काजल से अजी आँख शोभा देती है ॥५३-५५॥

भक्ति से परिपूर्ण वे छप्पन दिक्कुमारियाँ तीर्थंकर का सूतिकर्म भली प्रकार करके, अपने को धन्य समझती हुईं, अपने-अपने स्थान को चली गयी ॥५६॥



पंचम सर्ग

तत्पश्चात् (दिक्कुमारियो के जाने के बाद) स्वर्ग मे सुधर्मा रूपी झील का कमल, सिंहासन, जिस पर इन्द्र रूपी राजहंस आसीन था, जिनेश्वर के प्रभाव की वायु से प्रेरित होकर सहसा हिलने लगा ॥१॥

तब क्रोध रूपी निशाचरी ने सिंहासन के हिलने का बहाना पाकर इन्द्र के शरीर मे प्रवेश करके उसके क्षमा और विवेक को हर लिया। शत्रु निश्चय ही दोषो पर प्रहार करते हैं ॥२॥

उस (क्रोध की राक्षसी) ने उसके ललाट को तेवडो से भयंकर, भौंहो को सर्पों के समान भीषण, आँखो को प्रज्वलित अग्निकुण्ड के समान विकराल और मुँह को प्रचण्ड सूर्य के समान बना दिया ॥३॥

तब इन्द्र ने क्रोध के कारण अपने होठो को दान्तो से इस प्रकार काटा जैसे वह कामावेग से शची के अधरो को काटता है, और कोप रूपी वृक्ष के लम्बे पत्तो के समान दोनो हाथो को इधर-उधर हिलाया ॥४॥

इस प्रकार इन्द्र के सारे अंग एक-साथ विकार को प्राप्त हो गये। विपत्ति आने पर कोई विरला विवेकशील व्यक्ति ही धीरज रखता है ॥५॥

तब वज्रपाणि इन्द्र, जिसने पराक्रम से समस्त शत्रुओ को अभिभूत कर दिया था, तीनो लोको को तिनके के बराबर भी न समझता हुआ और हृदय मे क्रोधाग्नि से जलता हुआ क्षण भर के लिये यह सोचने लगा ॥६॥

कौन हिमालय को सिर से तोडना चाहता है, कौन सिंह को कान से पकड़ना चाहता है, कौन बेचारा आज मेरे क्रोध की जलती ज्वाला मे आहुति बनेगा ॥७॥

जिस गर्वान्ध मूढमति ने मेरे सिंहासन को हिलाया है, वह कौन है, जो मेरे वज्र की कोटि रूपी प्रज्वलित दीपक मे पतगे की भाँति जलकर मरेगा ॥८॥

यह सोचकर उसने ज्यो ही विद्युल्लताओ के पुज के समान उस विकराल वज्र को उठाया, जो विपक्ष का क्षय करने के लिये सदैव कटिवद्ध है तथा जिससे निरन्तर चिनगारियाँ निकलती रहती हैं, त्यो ही सेनापति ने हाथ जोड कर प्रणाम करके कहा—हे स्वामिन् ! मुझ सेवक के रहते हुए आप किसके लिए यह प्रयास कर रहे हैं ? ॥९-१०॥

स्वामिन् ! उस सेवक से क्या लाभ ?, जो आलसी और कायर, उदासीन होकर, अपने स्वामी को सेवक द्वारा करने योग्य काम मे लगा हुआ देखता रहता है ॥११॥

हे नाथ ! पूज्य स्वामी जिस पर क्रुद्ध हैं, मुझ सेवक को उसके विषय मे वताएँ ताकि आपकी कृपा से मैं तुरन्त उससे दिक्पाल की पूजा करूँ॥१२॥

सेनापति द्वारा ऐसा कहने पर वह चित्तवृत्ति को रोककर एक क्षण योगी की तरह वैठा रहा। तव उस भीषण धनुर्धारी को अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि प्रभु का पवित्र जन्म हुआ है ॥१३॥

देवराज का वह क्रोध, दुसह होता हुआ भी, प्रभु के दर्शन से ऐसे शान्त हो गया जैसे अमृत के पीने से ज्वर की पीडा और वादल के छिडकाव से जगल की आग ॥१४॥

हे आर्य ! मैं अज्ञानवश आपका अपमान कर वैठा, अत. मेरा यह एक अपराध क्षमा करें। लोग आपको तथा किसी अन्य को रुष्ट करके आपकी ही शरण मे आते हैं ॥१५॥

इन्द्र ने प्रभु के सामने अपने पाप का इस प्रकार वखान करते हुए उसे निरर्थक वना दिया क्योंकि गुरु के चरणो मे अपने पाप की निन्दा करके मनुष्य उससे मुक्त हो जाता है ॥१६॥

तब दधि के समान शुभ्र यश वाला इन्द्र एकाएक सिंहासन से उठा जैसे गाढी चाँदनी के कारण दर्शनीय चन्द्रमा उदयाचल से उदित होता है । १७॥

सारी दिशाओ मे दृष्टि डालती हुई तथा 'यह क्या है' घबराहट से इस प्रकार बोलती हुई समूची सुधर्मा सभा देवपति इन्द्र के सहसा उठने से क्षुब्ध हो गयी ॥१८॥

तब इन्द्र तीर्थंकर की ओर सात-आठ कदम चला। पूज्यजनो के चरणकमलो के दीखने पर विवेकशील लोगो के लिये यही उचित है ॥१९॥

"मैंने तीनो लोको के स्वामी को पहले नहीं देखा है, अत मैं जम्भ के विजेता इन्द्र से भी पहले प्रभु को नमस्कार करूँगा", मानो इसी कारण उसकी छाती पर पहना हुआ उत्तम हार (हिल कर)आगे गया ॥२०॥

इन्द्र ने, जिसका कन्धा बाँए कान के कर्णाभूषण की किरणो से व्याप्त उत्तरीय से विभूषित था, विधिपूर्वक प्रणाम करके घुटने टेक कर जिनेन्द्र की स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥२१॥

प्रणाम करते हुए इन्द्र के सिर के मुकुट की ज्योति रूपी पुष्परस से मधुर चरणकमलो वाले हे देव ! आपको नमस्कार। मथित क्षीरसागर की घनी तथा स्वच्छ तरगो के समान अतीव निर्मल गुणो से अथाह हे देव ! आपको प्रणाम ॥२२॥

हे जिनेन्द्र ! आप, जिन्होने अपनी ज्योति के पुज से प्रसूतिगृह और अन्तरिक्ष मे चमकने वाले दीपो तथा ग्रहो के तेज को नष्ट कर दिया है, जहाँ सूर्य की भाँति उदित हुए, वह यादवकुल रूपी उदयाचल प्रशसा के योग्य है ॥२३॥

इन्द्र इस प्रकार जिनेश्वर की स्तुति करके पुन सिंहासन पर बैठ गया और सेनापति को आदेश दिया कि सुघोषा नामक घण्टा जल्दी बजाओ ।२४।

उसने स्वर्ग को शब्द से भर देने वाले उस घण्टे को बजाया और देवताओ को प्रभु के स्नात्रोत्सव की सूचना देने के लिये उच्च स्वर मे यह घोषणा की ॥२५॥

हे प्रमुख देवताओ ! सावधान होकर सुनो, मैं कुछ कह रहा हूँ । यह इन्द्र जिनेश्वर का अभिषेक करने के लिये आपको बुला रहा है ॥२६॥

सारे देवता उसके शब्द रूपी अमृत के कानो मे पडने से इस प्रकार रोमाचित हो गये जैसे बादल से सिक्त कदम्ब के वृक्ष चारो ओर खिल उठते हैं ॥२७॥

तत्पश्चात् अतीव स्नेहमयी तथा चचल आँखो वाली देवागनाओ के द्वारा देखे जाते हुए इन्द्र ने, अपने अनुचरो के साथ, विमान मे बैठकर प्रभु का जन्माभिषेक करने के लिये प्रस्थान किया । २८॥

सामानिक आदि सारे देवता, परिवार सहित, इस प्रकार उसके पीछे गये जैसे सूर्य की किरणें सूर्य के पीछे और हाथियो का झुण्ड यूथ के नेता के पीछे चलता है ॥२९॥

तब भाद्रपद मे उमडे हुए सायकालीन बादलो की शोभा को धारण करते हुए देवताओ के विविधरगी विमान आकाश के आगन मे चलने लगे ॥३०॥

भौंरो के समान नीली छवि वाले आकाश ने, देवताओ के कमनीय एव विशाल विमानो के कारण, जिनसे किरणें बिखर रही थी, फूलो से भरे उपवन की शोभा प्राप्त की ॥३१॥

इन्द्र ने मनुष्यलोक मे दशार्हराज समुद्रविजय के महल मे जाकर शिवादेवी को ऐसे सुला दिया जैसे रात के समय चन्द्रमा कमलिनी को बन्द कर देता है ॥३२॥

तब इन्द्र चोर की तरह, चिन्तामणि-तुल्य जिनेन्द्र को लेकर और वहाँ उनका एक प्रतिरूप रखकर तत्काल मेरुपर्वत की ओर चल पडा ॥३३॥

वह स्वर्ण-खचित पर्वत, जो बहुमूल्य रत्नो की फैलती हुई कान्ति से अन्धकार को नष्ट कर रहा था, ऐसा लगता था मानो पृथ्वी रूपी नारी की चूडामणि हो ॥३४॥

जिसकी सुपारी, इलायची तथा देवदारुओं से सुगन्धित और सर्पों से रहित होने के कारण सौम्य गुफाओ को देखकर किस रतिचतुर तथा गहनो से सजी नारी ने अपने पति को मोहित नही कर लिया॥३५॥

जिसकी तलहटी मे कोकिलो के कण्ठ के समान श्यामल गहन वन ऐसा प्रतीत होता है मानो उसकी कटि से पृथ्वी पर गिरा हुआ काला अधोवस्त्र हो ॥३६॥

प्रिये ! इस श्यामल ताल के पेड को और उज्ज्वल फूलो से लदे इस कदम्ब को देखो। इधर लताओ से सुन्दर वन और मल एव ताप को हरने वाली इन दर्शनीय बावडियो को देखो ॥३७॥

प्राणप्रिये। इस सनातन जिन-चैत्य को, जिसका पवित्र जल पाप तथा मल को दूर करने वाला है देखो और अपने विशाल नेत्रो का फल प्राप्त करो ॥३८॥

जिसके मनोहर वृक्षो से युक्त भद्रशाल नाम से प्रसिद्ध वन मे विद्याधर अपनी प्राणप्रिया को इस प्रकार नयी-नयी वस्तुएँ दिखाते हुए घूमते हैं ॥३९॥

जिस पर शोभाशाली कल्पवृक्षो की पक्तियो से युक्त तथा चन्दन वृक्षो से आनन्दित करने वाले नन्दन नाम के अन्य वन को देख कर वह स्त्री भी हस कर अचानक अपने प्रेमी से बोलने लगी, जो पहले लज्जा तथा नीति के कारण नही बोलती थी ॥४०॥

जो, ऊँचे सनातन जिन मन्दिरो में नाचती हुई देवानाओ के चरणो की पायजेबो के गम्भीर शब्द से मानो वहाँ आए हुए सौम्याकृति चारणमुनियो को उनके सुख और सयम का समाचार पूछता है ॥४१॥

उसकी भूमि शुद्ध सोने से खचित थी, चोटियाँ वन के कमनीय अरणि वृक्षो से (भिन्न-भिन्न भागो मे) विभक्त थी। वह नदियो के पेय (मधुर) जल से सुन्दर था और वहाँ कल्पवृक्ष की पक्तियाँ वृद्धि पा रही थी ॥४२॥

जिसकी तलहटी मे जल के भार से झुका बादल गम्भीर तथा ऊँची गर्जना करता हुआ मानो पृथ्वी के सब पर्वतो मे इसके ही साम्राज्य का उद्घोष करता है ॥४३॥

वहाँ देवता खेलने की और पत्नी के साथ रमण करने की कामना करते है, और बिम्बो से युक्त जैन मन्दिर सयमी भक्तो की रक्षा करते हैं ॥४४॥

चौडी गालो वाली किन्नरियाँ अपने प्रियतमो के साथ जिसकी चट्टानों पर बैठकर खूब गीत गाती हैं। उनके सामने मनुष्यो की स्त्रियाँ क्या हैं ॥४५॥

जिस पर वन, अपनी कोपलो से मूँगो को मात करने वाले अनेक प्रकार के वृक्षो से युक्त थे। वे आम के पके फलो से पीले थे और उनमे देवता देवागनाओ के चरण-कमलो मे झुक रहे थे ।४६॥

किन्नर,खेचर आदि जिसकी सोने के समान उज्ज्वल तलहटियो मे निवास करते हैं। कौन लक्ष्मी से शोभित सुन्दर कमल की उपासना नही करता ? ॥४७॥

जिसके पत्थरो मे पड़े प्रतिबिम्ब का, प्रिया की भ्रान्ति से, आलिंगन करने के इच्छुक काम-पीडित नायक की उसकी प्रेयसियाँ हसी उडाती हैं, जिससे वह लज्जित हो जाता है ॥४८॥

जो, जब ज्योतिश्चक्र रूपी बैल दिन-रात गाहते हैं, तब अन्धकार रूपी अन्न से भरे विशाल खलिहान मे बीच का कीला बनता है अर्थात् बीच के कीले का काम देता है ॥४९॥

सैद्धान्तिक लोग जिनेन्द्र के जन्माभिषेक के जल से पवित्र तथा समस्त ससार की नाभि (केन्द्र) के तुल्य उस पर्वत की ऊँचाई लाख योजन बतलाते हैं ॥५०॥

जहाँ अगुरु के विशाल वृक्षों मे सुगन्धित पृथ्वी वस्तुत. वसुधा (धन-सम्पन्न) है। और जहाँ उज्जवल मणियो के हार पहने काम-पीडित देवागनाएँ केवल रति-क्रीडा की इच्छा से आती हैं ।।५१।।

वहाँ चमकती मणियो की प्रतिमाओ से युक्त विहार किसके मन को नही हर लेते ? वे (विहार) दीवारो मे चमकते हुए अनेक मनोरम रत्नो की किरणो से सदा प्रकाशित रहते है। उनके द्वारो पर स्थित मकरो से रहित जलाशयो के पानी की तरगो से वेगवान् वायु यात्रियो के शरीर का पसीना दूर करती है। पुतलियो से युक्त तोरणो, कान्तिपूर्ण कलशो, स्वर्णदण्डो तथा कोमल ध्वजो से उत्पन्न जिनकी शोभा मन को लुभाती है ।।५२-५३।।

विद्वान् तथा देवता, विविध प्रकार के श्रेष्ठ रत्नो की आभा से गहन अन्धकार को नष्ट करने वाली तथा सुन्दर वृक्षो से मनोहर इसकी चोटी का निर्भय होकर आनन्द लेते हैं ।।५४।।

जिसकी सोने की चोटी रूपी दीवार मे उत्पन्न शाद्वल और कल्पवृक्ष, दूर से देखने पर, चारो ओर इन्द्रनीलमणियों का भ्रम पैदा करते हैं ।।५५।।

वहा शुभ कथाओ पर विचार करने वाले तथा पवित्र गुणो से सम्पन्न विहरणशील चारण मुनि और परम आनन्दस्वरूप चेतना मे सलग्न योगी ध्यान मे लीन रहते हैं, अत वहाँ पाप विनष्ट हो जाता है ।।५६।।

इन्द्र इस अद्वितीय मेरुपर्वत की उच्च समतल भूमि के शृगार जिनेश्वर को अपने पाँच रूपो से भजता हुआ पाण्डक वन मे पहुँचा ।।५७।

अन्त.पुर की स्त्रियो सहित ज्योतियो, व्यन्तरो, देवो तथा दानवो के समूह से घिरा, लज्जा से कातर आखो वाली देवागनाओ द्वारा बार-बार देखा जाता हुआ पवित्र-हृदय इन्द्र, तीर्थंकर के प्रति अगाध भक्ति रखता हुआ, वहाँ पाण्डुकम्बल से युक्त सोने की शिला की पटिया पर उतरा ।।५८।।

षष्ठ सर्ग

इसके बाद प्रभु का स्नानोत्सव करने के लिये अन्य सब इन्द्र भी सुमेरु पर्वत पर इस प्रकार इकट्ठे हुए जैसे सन्ध्या के समय पक्षीगण (रात को) रहने के लिये वासवृक्ष पर आते हैं ॥१॥

तब देवराज इन्द्र, देवागनाओ द्वारा चचल आखो से तत्परतापूर्वक देखे जाते हुए सौन्दर्यराशि जिनेश्वर को गोद मे लेकर सिहासन पर बैठ गया ॥२॥

इन्द्र की प्रभा की राशि से मिश्रित प्रभु की नीलकमल के समान कान्ति, ताजे केसर के द्रव से युक्त कृष्णसागर की तरगो की पक्ति की तरह चमक रही थी ॥३॥

देवनायक इन्द्र की गोद मे स्थित, अलसी के फूल के समान कान्ति वाले जिनेश्वर, चम्पक के खिले हुए कोश में बैठे सुन्दर तरुण भौंरे की भांति शोभित हुए ॥४॥

तब इन्द्र की गोद मे बैठे नील प्रभा से सम्पन्न भगवान् ने पर्वत की मध्यवर्ती चोटी पर आसीन गजशिशु की शोभा को जीत लिया ॥५॥

इसके बाद समस्त मनुष्य मिट्टी, चाँदी, सोने तथा रत्नो के घडो में नाना प्रकार की औषधियो से मिश्रित जल भर कर प्रभु का अभिषेक करने के लिये वहाँ उपस्थित हुए ॥६॥

देवताओ के हाथो मे चन्द्रबिम्ब के समान स्वच्छ कलश ऐसे शोभित हुए जैसे खिले हुए स्वर्ण कमलो के मध्य बैठे उज्ज्वल पखो वाले राजहस ॥७॥

तीर्थों से लाए गये निर्मल जल से पूर्ण, चार कोश लम्बे मुँह वाले वे कलश ऐसे शोभायमान हुए मानो प्रभु का स्नानोत्सव करने के लिये पाताललोक से आए अमृतकुण्ड हो ॥८॥

तब विधिवेत्ता देवताओ तथा असुरो के स्वामियो ने सुन्दर एव दीर्घ भुजाओ रूपी शाखाओ से युक्त, तीनो लोको को अभीष्ट फल देने वाले जिन रूपी कल्पवृक्ष का विधिपूर्वक अभिषेक किया। वे उस समय अपने हृदयकमलो मे यह सोच रहे थे कि आज हमारा देवत्व सफल है, स्वामित्व कृतार्थ है और आज हमने भवसागर को पार कर लिया है। अतिशय हर्ष से वे ऐसे पुलकित हो गये जैसे वर्षा के जल से कदम्ब के कुंज। वे भक्तिरस के कारण लड़खडा रहे थे और उनके अगदो के रत्न (भीड के कारण) आपस में टकरा रहे थे ॥९-११॥

घडो से प्रभु के सिर पर गिरता हुआ वह जल-समूह ऐसे लगता था मानो जिनेन्द्र को देखने को उत्सुक आकाशगगा का जलप्रवाह हो ॥१२॥

पहले वह जल जिनेन्द्र के शरीर से सिंहासन पर गिरा, वहाँ से पर्वत की चोटी पर, फिर वह वहाँ से भी नीचे जाकर ठहरा। अथवा जडवुद्धि ऊँचे कहाँ ठहर सकते हैं ? ॥१३॥

सुरो तथा असुरो के स्वामियो ने भी तीर्थंकर के शरीर के सम्पर्क से पवित्र उस ज़ल की वन्दना की। गुणवानो की की गई सेवा मूर्खों को भी तत्काल फल देती है ॥१४॥

प्रभु के सावले शरीर पर लगे हुए क्षीरसागर के दुग्धकण, आकाश मे (चमकते) नक्षत्रो तथा नीली शिला पर (जडे) मोतियो के समान प्रतीत हो रहे थे ॥१५॥

तब देवताओ द्वारा वजाए गये अलौकिक वाद्य मधुर स्वर मे वजने लगे। क्या गम्भीर व्यक्ति, पीटे जाने पर भी कभी कठोर वोलते हैं ? ॥१६॥

देवताओ ने काफूर, कस्तूरी, चन्दन, कालागुरु, कुंकुम आदि से प्रभु की अचर्ना करके उन्हें उत्तम पुष्पो, वस्त्रो तथा भूषणो से सजाया ॥१७॥

उनके शरीर पर देवो और असुरो द्वारा लगाया गया रगविरंगा, मनोरम कान्ति वाला सुगन्धित लेप, वादलो से घिरे आकाश मे सन्ध्या की लालिमा के समान शोभित हुआ ॥१८॥

इन्द्र भी जिनके चरणो की वन्दना करते हैं, पुष्प उन्ही प्रभु के सिर पर चढ कर विराजमान हुए। अथवा पवित्र व्यक्ति कहाँ उच्च स्थान नही प्राप्त करते ॥१६॥

जिनेन्द्र अलौकिक आभूषण पहनकर आँखो को अतीव सुन्दर लगने लगे। हम का शरीर पहले ही मनोरम होता है, स्वर्ण-कमल का सम्पर्क पाने पर तो कहना ही क्या? ॥२०॥

अलौकिक वस्त्रो से रचित उस भेस ने जगदीश्वर के अद्वितीय सौन्दर्य मे तनिक भी वृद्धि नहीं की जैसे अमृत-स्नान से चन्द्रमा (की कान्ति) में कोई अन्तर नही आता ॥२१॥

उस समय तीनो लोको के स्वामी को आनन्द और लज्जा के साथ बार-बार देखती हुई देवागनाओ के विशाल एव निर्निमेष नयन कृतार्थ हो गये ॥२२॥

देवो तथा असुरो के कमल-तुल्य नेत्र, अन्य सब विषयो को छोडकर, एक साथ जिनेन्द्र के रूप पर ऐसे पडे, जैसे भौंरे खिले हुए कमल-वन पर गिरते हैं ॥२३॥

तत्पश्चात् इन्द्र ने, जिसके कपोल दीप्तिमान् चचल कुण्डलो की किरणो रूपी केसर से व्याप्त थे, हाथ जोडकर नम्रता-पूर्वक भगवान् की स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥२४॥

जगद्वन्द्य भगवन् ! मैं विनीत, लक्ष्मी के आवास आपके चरणकमलो मे प्रणाम करके उत्तम मुमुक्षुओ रूपी राजहसो द्वारा पूज्य आपकी स्तुति करना चाहता हूँ ॥२५॥

हे नाथ ! सहस्राक्ष इन्द्र भी गुणो के अनुरूप आपके रूप को नही देख सकता और सहस्रजिह्व शेषनाग भी आपके उत्कृष्ट गुणो का बखान करने मे समर्थ नही है ॥२६॥

हे देव ! फिर भी मैं आपकी शक्ति रूपी सखी से प्रेरित होकर आपके गुणो की स्तुति करना चाहता हूँ । क्या बच्चा, माता के कहने पर, तुतलाती वाणी से अपना नाम नहीं बतलाता ? ॥२७॥

हे आर्य ! आपकी स्तुति से मनुष्यो के पूर्वजन्मों के कर्म ऐसे नष्ट हो जाते हैं, जैसे ग्रीष्म के सूर्य की गर्मी से तपायी गयी हिमालय की बर्फ पिघल जाती है ॥२८॥

हे ससार के स्वामी ! स्तुति करने पर आप प्रत्येक अवस्था में पापो को दूर करते है । सूर्य, चाहे वह सायकाल का हो, प्रात. काल का अथवा मध्याह्न का, अन्धकार को अवश्य नष्ट करता है ॥२९॥

हे जिनेश्वर ! ससार में जो एकचित्त होकर भक्ति से आपका स्मरण करता है, सिद्धि रूपी लक्ष्मी अथवा देवताओ की लक्ष्मी निश्चय ही उसका इस प्रकार आलिगन करती है, जैसे नारी अपने पति का ॥३०॥

हे प्रभु ! आप जिस हृदय मे रहते हैं, उसमे किसी दूसरे देवता को प्रवेश करने नही देते, फिर भी आप 'विरोध मुक्त' नाम से प्रसिद्ध हैं । अथवा महापुरुषो की वास्तविकता को जाना नही जा सकता ॥३१॥

हे जिनेश्वर ! आपकी आज्ञा से ही यहाँ लोगो ने सिद्धि प्राप्त की है, कर रहे हैं और करेंगे । सूर्य के प्रकाश से ही कमल खिले हैं, खिलेंगे और खिल रहे हैं ॥३२।

हे तीर्थंकर ! कुछ मूर्ख तुम्हे छोड़कर स्त्रियो मे अनुरक्त देवताओ से प्रेम करते हैं । उन अज्ञानियो के लिये यह उचित है क्योकि व्यक्ति अपने जैसे लोगों से ही प्रीति प्राप्त करते हैं ॥३३॥

हे जिन ! आपने ही, दूसरो के द्वारा अजेय मोह रूपी पहलवान को जड से नष्ट किया है । चन्द्रमा के अतिरिक्त और कोई रात्रि के अन्धेरे को दूर नहीं कर सका है ॥३४॥

हे देव ! यदि आक का दूध गाय के पवित्र दूध की तथा विष अमृत की समानता प्राप्त करे, हे त्रिलोकी के दीपक ! तब दूसरा कोई देवता आपकी बराबरी कर सकता है ॥३५॥

हे नाथ ! अन्य मतो के अनुयायी भी आपको ही आप्त मानते हैं, यद्यपि वे आपको भिन्न-भिन्न नाम देते हैं। हे चिदात्मरूप। पृथ्वी पर वीत-राग सिद्ध ही आप्त होता है, और वह आप ही है ॥३६॥

स्वामिन् ! तुम्हारे जिस ज्ञान के सागर मे ये तीनो लोक मछली के समान प्रतीत होते हैं, हे परमात्मा रूपी वैद्य ! तुम्हारे उस गुण को सदा नमस्कार ॥३७॥

भगवन् ! आपकी वाणी प्राणियो के लिये जितनी हितकारी है, उतनी अन्य किसी की नही। अपनी माता पुत्र से जितना प्रेम करती है, उतना विमाता नही, भले ही वह सौम्य हो ॥३८॥

हे जिन रूपी चन्द्रमा ! देवो तथा असुरो द्वारा पूजनीय आपके चरण रूपी इस पवित्र चिन्तामणि के दर्शन कुछ पुण्यात्माओ को ही होते हैं ॥३९॥

भगवन् ! आज आपके मुख के दर्शन से मेरे कर्मों का जाल नष्ट हो गया है, मेरा भाग्य जाग उठा है और मैंने सिद्धि रूपी वधू को वश में कर लिया है ॥४०॥

हे तीर्थंकर ! सदा आपके सौम्य मुख को, जिसकी कान्ति कभी क्षीण नही होती, देखते हुए हमे प्रतीत होता है कि यह (आकाश का) चन्द्रमा निश्चय ही अत्रि की आँख की मैल है ॥४१॥

भगवन् ! आपका यह तेजस्वी मुख रूपी दर्पण बहुत अद्भुत प्रतीत होता है, जिसमे दूसरो के मुख कभी प्रतिबिम्बित नही हुए ॥४२॥

केवल ज्ञानियो मे श्रेष्ठ आपको नमस्कार। हे पुरुष रूपी श्वेत कमल ! आपको नमस्कार। भवसागर को तैरने वाले आपको नमस्कार। सेवको को पार लगाने वाले आपको प्रणाम ॥४३॥

हे सर्वज्ञ ! ससार कुछ भी कहे, किन्तु मेरे विचार मे आप ही एकमात्र देव हैं, जिसे देखते ही तत्वज्ञो की आंखें हर्षाश्रु बरसाने लगती हैं ॥४४॥

हे जगत्पति ! आपकी स्तुति करने से यदि वाणी रुक गयी है, वह इसलिये नही कि आपके गुण इतने ही हैं बल्कि यह थकावट अथवा अज्ञान के कारण है, देवराज इस प्रकार (जिनेन्द्र की) स्तुति करके चुप हो गया ॥४५॥

स्तनो रूपी कुम्भो के भार से कुछ झुकी हुई, शिरीष के फूल से भी अधिक कोमल, मस्ती मे अलसाई तथा विलास के कारण अधमुंदी आंखो वाली जो अप्सराएँ थी ॥४६॥

अतीव कोमल रेशमी वस्त्र से ढकी, करधनी के सूत्रो के उत्तम रत्नो से युक्त जिनकी जघनस्थली ऐसे शोभायमान थी मानो वह कामदेव की बैठने की गद्दी हो ॥४७॥

जिनकी नील मणियों के कर्णाभरणो से युक्त, सोने के समान काति वाली गालें, शश के काले चिह्न से अङ्कित अष्टमी के चमकते हुए चन्द्रमा की शोभा को मात कर रही थी ॥४८॥

वीर काम के बाणो के प्रहार से पीड़ित देवगण, जिनके तूंबियो के समान कठोर स्तनो को छाती पर रखकर (अर्थात् उनका आलिंगन करके) आनन्द से आंखें बन्द कर लेते हैं और पीड़ा को भूल जाते हैं ॥४९॥

जिनकी अतीव पुष्ट, चम्पक पुष्प के समान कान्ति वाली, सौन्दर्य एव सलोनेपन के रस मे गन्ने के समान कोमल जघाएं काम के हाथी की सूण्ड के समान प्रतीत होती थी ॥५०॥

जिनके होठ पके हुये विम्ब फल के समान लाल थे, पेट त्रिवटी से विभूषित थे, और मनोरम लम्बी बाहे ऐसी अद्भुत लगती थीं मानों वे वीर काम के भाले हो ॥५१॥

बजते हुए नूपुरो के शब्द से मनोहर तथा निर्दोष शोभा से सम्पन्न जिनके पैर, भिनभिनाते भौरो से शोभित खिलते हुए स्वर्ण-कमल को पराजित करते थे ॥५२॥

तब गम्भीर ध्वनि वाले चार प्रकारके वाद्योंके बजाए जाने पर तथा गन्धर्व बालाओ द्वारा ऊपर मुँह करके सुन्दर गीत गाने पर, नृत्यकला मे पारगत तथा आनन्द रस से परिपूर्ण उन मृगनयनी अप्सराओ ने, इन्द्र की आज्ञा से, देवकुमारो के साथ जिनेन्द्र के सामने सगीत प्रारम्भ किया ॥५३-५४॥

ताल के अनुकूल नृत्य करती हुई (उनमे से) किसी एक ने, जिसकी रेशमी चोली कसकर बधी थी और वेणी स्थूल नितम्बो को छू रही थी, इन्द्रो को क्षण भर के लिये चित्र मे अकित-सा कर दिया ॥५५॥

किसी दूसरी ने, जिसके हाथ हिलते कगन से सुशोभित थे और मुह मुस्कराहट से खिला हुआ था, अपनी ढीली नीवी को विलासपूर्वक कसकर बाँधा मानो वह सम्राट् काम की मुद्रा हो ॥५६॥

कामातुर कोई अन्य देवागना, जिसके पाँव मे नूपुर बज रहे थे, एक हाथ कटि पर रखकर और दूसरे से बार-बार अभिनय करती हुई जल्दी-जल्दी चलने लगी ॥५७॥

हिलते हुए कुण्डलो की कान्ति रूपी जल से धुलने के कारण चमकती गालो वाली कोई दूसरी, सामने नाचते हुये किसी कामाकुल-चित्त युवक को लडखडाता देखकर हस पडी ॥५८॥

छरहरे शरीर वाली कोई अन्य अपने अङ्गो को सुन्दर ढग से हिलाती हुई (रम्य अङ्गहारोऽगविक्षेपो यस्या. सा) नृत्य करने लगी । वह अपने मुख

के सौन्दर्य से चन्द्रमा को मात कर रही थी, उसके नितम्बो पर करधनी बधी थी और उसकी दृष्टि विलासपूर्ण थी ॥५९॥

इसी प्रकार कुछ देवता हर्षातिरेक के कारण आकाश मे उछलने लगे, कुछ ने उच्च स्वर मे जयकार किया और कुछ ने गम्भीर सिंहगर्जना की ॥६०॥

इस प्रकार विधिज्ञ देव प्रभु के सामने विधिपूर्वक विभिन्न नामो वाला सुन्दर नृत्य करके आनन्दित हुए। अपना कार्य सफल होने पर कौन प्रसन्न नहीं होते ? ॥६१॥

अपनी पत्नियो सहित इन चार प्रकार के देवो ने बाईसवे तीर्थंकर के जन्माभिषेक का उत्सव सम्पन्न करके अपने को अत्यधिक कृतार्थ माना ॥६२॥

तीर्थंकर का स्नानोत्सव पुण्यात्माओ का क्या-क्या कल्याण नही करता ? वह पाप को नष्ट करता है, दुष्कृत को समाप्त करता है, रोगो को दूर करता है, दुर्भाग्य को ढकता है, कल्याण देता है, लक्ष्मी को आकर्षित करता है, पुण्य की रक्षा करता है, दुर्गति के मुंह को आच्छादित करता है और कष्ट से रक्षा करता है ॥६३॥

तत्पश्चात् जिनेन्द्र को माता के पास लेटा कर देवनायक इन्द्र, जिसके समूचे पाप नष्ट हो गये थे, अष्टम द्वीप तीर्थ मे जिन-यात्रा की व्यवस्था करके, देवताओ के साथ प्रथम कल्प (स्वर्ग) मे गया ॥६४॥



सप्तम सर्ग

स्नानोत्सव के पश्चात् दासियो ने समुद्र-विजय को कहा—महाराज ! आपको बधाई। आपके उत्तम पुत्र पैदा हुआ है ॥१॥

राजा उनके वचनो से ऐसे आनन्दित हुआ मानो उसने अमृत मे स्नान कर लिया हो। अथवा उस जैसे पुत्र के जन्म से किसे प्रसन्नता नही होती ? ॥२॥

तब राजा ने प्रसन्न होकर, बधाई देने वाली उन सब चेटियो को वस्त्रो, आभूषणो तथा स्वर्ण से कल्पलताओ के समान बना दिया ॥३॥

प्रसन्नता से खिले मुख वाले उसने, जिसका शासन इन्द्र के समान था, तुरन्त अधिकारियो को बुलाकर यह आज्ञा दी ॥४॥

यादव-कुल रूपी उदयाचल पर पुत्र रूपी सूर्य उदित हुआ है। आप सब सावधान होकर यह सुनें ॥५॥

कारागार में जो बन्दी और बाडे मे जो गायें बन्द हैं, आप मेरी आज्ञा से आज उन सबको छोड दें ॥६॥

आप पिंजरो रूपी कमलो मे बन्द पक्षियों रूपी भौंरो को सूर्य की किरणो के समान स्वेच्छाचारी बना दें। (अर्थात् उन्हे मुक्त कर दें) ॥७॥

और समूचे नगर में अमारि की घोषणा करें क्योकि सब प्राणियो की रक्षा करने वाला मेरा पुत्र जन्मा है ॥ -॥

आप सारे नगर को उत्तम चन्दन से लसलसा, पचरगे फूलो से ऊबड़ खाबड और धूप से धूमैला बनाए ॥९॥

राजा की उपर्युक्त आज्ञा सुनकर प्रसन्न हुए अधिकारी महल से ऐसे बाहर चले गये जैसे वन से हाथी ॥१०॥

उन्होंने तत्काल राजा के सब आदेशो की पूर्ति की। राजाओ के कार्य आदेश से सिद्ध होते हैं, जैसे देवताओ के इच्छा से ॥११॥

उस समय सूर्यपुर तोरणों पर फहराती हुई ध्वजाओ से ऐसा सुन्दर लग रहा था मानों प्रभु के पुण्यो के प्रभाव से (पृथ्वी पर) गिरा स्वर्ग का टुकडा हो ॥१२॥

विविध सजावटो से भूपित राजा का सभागृह ऐसे शोभित हुआ मानो प्रभु के जन्मोत्सव को देखने के लिये स्वर्गरूपी विमान आया हो ॥१३॥

सुन्दर स्त्रियो द्वारा गाये गये मधुर धवलो और मगलो के कारण कोई दूसरा शब्द, कानो मे पडा हुआ भी, सुनाई नहीं देता था ॥१४॥

तब अपनें लिये धन चाहने वाले अनेक याचको और राजाओ से राज-मार्ग ऐसे भर गया जैसे पक्षियो से फलदार वृक्ष ॥१५॥

उस समय मयूरो के नृत्य का हेतु तथा बादल की गर्जना को मात करने वाला वाद्यो का अतीव गम्भीर शब्द दिशाओ मे फैल गया ॥१६॥

तत्पश्चात् राजलक्ष्मी से युक्त दशार्ह देश के अधिपति समुद्र-विजय जो दूसरे इन्द्र के समान थे, सिंहासन पर विराजमान हुए। उनके शरीर पर कुकुम, काफूर तथा हरिचन्दन का लेप लगा हुआ था, होठ उत्तम सुगन्धित पान से लाल थे। वे हस के पखो की छवि के समान स्वच्छ तथा सुन्दर चीनी रेशमी वस्त्र पहने हुए थे तथा हार, अर्धहार, बाजूबन्द आदि प्रमुख भूषणो से भूपित थे। उनका सिर, आकार मे पूर्ण चन्द्र विम्ब के समान छत्र से शोभित था। महिलाएँ देवताओ को मोहने वाली चवरियो से उन्हे हवा कर रही थीं। मगलपाठ करने मे निपुण व्यक्ति पग-पग पर उनकी स्तुति कर रहे थे और समस्त मन्त्री, सामन्त तथा पुरोहित उनके साथ थे ॥१७-२१॥

तत्पश्चात् (अर्थात् सिंहासन पर बैठकर) उसने सेठो, राजाओ तथा प्रधान पुरुषों द्वारा किए गये प्रणाम को आदरपूर्वक स्वीकार किया ॥२२॥

तब नर्तकों ने नृत्य आरम्भ किया, गायकों ने मनोहर गीत, कुल-नारियों ने रास और वन्दियों ने विरुदावली ॥२३॥

तुम्हारे प्रताप के दीपक के सामने तीनों लोक उल्लू (के समान) हैं, सूर्य शलभ है और सुमेरु पर्वत मात्र वाती ॥२४॥

आग को पानी बुझा देता है, सूरज को बादल ढक लेता है, परन्तु राजन् ! तुम्हारे तेज को कोई भी कम नहीं कर सकता ॥२५॥

हे स्वामी ! तुम्हारे शत्रुओं की जो स्त्रियाँ (पहले) महलों में सुखप्रद शय्याओं पर सोती थीं तुम्हारे क्रुद्ध होने पर (अब) वे पर्वतों की शिलाओं की पटियों पर सोती हैं ॥२६॥

राजन् ! रण रूपी रात्रि में जब तुम्हारी) चन्द्रहास नामक खड्ग दिखाई देती है, तब तुम्हारे शत्रु अपनी प्रियाओं से बिछुड जाते हैं (अर्थात् मर जाते हैं) जैसे चकवे रण के समान रात में चाँदनी को देखकर चकवियों से वियुक्त हो जाते हैं ॥२७॥

अनेक प्रदेशों मे बहती हुई तथा भगवान् शकर के सिर पर खेलती हुई गङ्गा के समान तुम्हारी आज्ञा, नाना देशों में चलकर और राजाओं के सिरों पर खेलकर समुद्र तक फैल गयी है ॥२८॥

राजन् ! तुम्हारे दान से उद्धत तथा गुणों से उत्साहित याचक युद्ध-भूमि-तुल्य (घर के) आगन में, और तुम्हारे चलाने से तीव्र तथा धनुष की डोरी से छोडे गये बाण समरागण में आपकी विजय को बतलाते हैं ॥२९॥

चन्द्रमा की उज्ज्वल कान्ति भी सूर्य के सामने क्षीण हो जाती है, किन्तु हे नाथ ! आपकी कीर्त्ति कहीं भी मन्द नहीं पडी ॥३०॥

राजन् ! आप इस पृथ्वी की रक्षा करते हुए तथा न्यायपूर्ण नीति का विस्तार करते हुए सौ वर्ष तक जीओ ॥३१॥

राजा ने वन्दियो द्वारा इस प्रकार गायी गई अपनी मोतियो के समान निर्मल कीर्त्ति को सुना, जो कानो के लिए अमृत के समान (सुखद) थी ॥३२॥

तब राजा ने याचको की इच्छा को धनराशि से पूरा कर दिया और इन्द्र, यम, वरुण तथा कुवेर की (चारो) दिशाओ को यशराशि से भर दिया ॥३३॥

राजा ने, याचको के मनोरथो को धन से पूरा करते हुए, बारह दिन तक चलने वाला पुत्र के जन्म का महोत्सव किया ॥३४॥

राजा ने श्रेष्ठ यादवो को अपने घर बुलाकर और उन्हे यथायोग्य भोजन कराके उनका गौरव-पूर्वक सम्मान किया ॥३५॥

क्योकि माता ने जगत्प्रभु के गर्भ मे आने पर, स्वप्न मे अशुभ रत्नो से युक्त चक्र की देदीप्यमान नेमि देखी थी, अत. माता-पिता ने स्वप्न के अनुसार अपश्चिम आदि की भाँति प्रभु का नाम अरिष्टनेमि रखा । ३६-३७॥

विभिन्न देवताओ की धात्रियो रूपी माताओ द्वारा दुलारा जाता हुआ यदुकुल रूपी कमल का वह सूर्य चन्द्रशाला मे इस प्रकार वढने लगा जैसे मालियो द्वारा पाला गया कल्पवृक्ष जल भरे वन मे ॥३८॥

अष्टम सर्ग

इसके बाद भगवान् पिता के घर मे माता-पिता और बन्धुजनो की इच्छाओ के साथ इस प्रकार बढने लगे जैसे सुमेरु पर्वत पर नया कल्प वृक्ष अपने अभीष्ट दान आदि मुख्य गुणो के साथ बढता है ॥१॥

प्रियगु लता के समान कान्ति वाला प्रभु का शरीर ऐसे शोभित हुआ मानो वह मरकत मणियो के टुकडो मे निर्मित हो अथवा अंजन के कणो से गठित हो अथवा नये मेघो से आच्छादित हो ॥२॥

सरोवर के कमल को छोडकर लक्ष्मी ने भगवान् के चरण-कमल का आश्रय लिया। निश्चय ही परिचित वस्तु के सुन्दर होने पर भी सब नयी चीज से प्यार करते हैं ॥३॥

अर्गला अत्यधिक कठोरता के कारण और शेषनाग का शरीर विषपूर्ण होने के कारण प्रभु की सीधी सुन्दर भुजाओ की समानता प्राप्त नही कर सके ॥४॥

लोगो की आंखो को आनन्द देने वाला उत्कृष्ट सौम्य गुण भगवान् के परम पवित्र मुख पर ऐसे व्याप्त हो गया जैसे उज्ज्वल किरणो का समूह चन्द्रमा के पूर्ण मण्डल पर ॥५॥

शम रूपी अमृतरस की तरगों से व्याप्त तथा सलोनेपन रूपी अंजन से अंजी पुतलियो वाले प्रभु के दोनो नेत्र, जिन्होंने कमल के सौन्दर्य को परास्त कर दिया था, अतीव शोभा पा रहे थे ॥६॥

प्रशसनीय जिनेश्वर नगर-वासियो को मोहित करते हुए, समान उम्र वाले यदुकुमारो के साथ, जिनमे कृष्ण प्रमुख थे, शुभ वन और भवन में भी खेलने लगे ॥७॥

गजगति प्रभु ने धीरे-धीरे बचपन को पार करके और नव यौवन को प्राप्त करके ससार की आँखो के लिये अमृत के समान (आनन्ददायक) सुन्दर शरीर विकसित किया (धारण किया) ॥८॥

जिनेन्द्र को देखकर विनयावनत जनता ने हृदय में सोचा कि क्या यह जगत् का पालन करने के लिये इन्द्र आया है, अथवा शरीर धारण करके कामदेव ? ॥९॥

उसका गुण दूसरो की भलाई के लिये था, निपुणता संसार को बोध देने वाली थी, ऐश्वर्य समस्त योगियो को अभीष्ट था और सज्जनता लोगो का सन्ताप दूर करने मे समर्थ थी ॥१०॥

भवसागर से मुक्ति देने वाले उन पूज्य के पास नवयौवन, अनुपम समृद्धि, उत्तम रूप-सौन्दर्य तथा अद्भुत प्रभुत्व था, परन्तु इनसे उनके मन मे कोई विकार पैदा नही हुआ ॥११॥

ससार मे उन्ही के चरण-कमल पूजनीय हैं, जो तरुणावस्था मे भी विकारो से मुक्त रहते हैं। नदी के वेग से आहत होकर कौन-से वृक्ष नहीं गिरते ? विरले देवदारु ही सीधे रहते हैं ॥१२॥

तत्पश्चात् अपनी सम्पदा की राशि को बढा कर (विभिन्न) ऋतुएँ, अपने वृक्षो के पुष्पो के उपहार भेंट करती हुईं, उस उदयशील पवित्र तीर्थंकर की सेवा मे उपस्थित हुईं ॥१३॥

धीरे-धीरे शिशिर की शोभा को कम करता हुआ, पेडो को मलय-पवन से पल्लवित करता हुआ तथा कोकिलाओ के शब्द को फैलाता हुआ ऋतुराज वसन्त वन-भूमि मे अवतरित हुआ ॥१४॥

नाना प्रकार के पत्तो, फूलो और फलो से भरी तथा मस्त पक्षियो के कर्णप्रिय शब्द से गुंजित समूची वनस्थली सहृदयो के हृदयों को आनन्दित करने लगी ॥१५॥

मीठी मंजरियों से प्रसन्न तथा भिनभिनाते भौंरो रूपी वन्दियो से सम्मानित कौन-सा आम का पेड, हरे-भरे मंदानो तथा फूलो से लदे चम्पको के साथ, मन को मोह नहीं लेता था ॥१६॥

फूलो रूपी मोतियो से दिशाओ को भासित करने वाले, चमकते भौरो रूपी मणियो की कांति से युक्त तथा पत्तो के कारण लाल उस तिलक वृक्ष ने वनलक्ष्मी के तिलक के सौन्दर्य को धारण किया (अर्थात् वह वनलक्ष्मी के माथे का तिलक प्रतीत होता था) ॥१७॥

फूलों तथा फलो से लदी आम्रवृक्षो की पंक्ति युवा पक्षियो के मधुर शब्द से पथिक को, उसका उचित आतिथ्य करने के लिये, गौरव पूर्वक बुला-सी रही थी ॥१८॥

अमराइयो के घने वन मे अपनी सहचरी का आलिंगन करने को उत्सुक तोते को देखकर कौन विरही, मार्ग मे अपनी पत्नी को बार-बार याद नहीं करता था ॥१९॥

उद्यानो मे विलासी जनो को अपनी प्रियाओ के गले में भुजाएं डाले देखकर कामातुर विरही, प्रेयसियो को याद करते हुए, विकल होकर पृथ्वी पर लोटने लगे ॥२०॥

किसी सुन्दर रमणी ने पति को न पाकर, लताओ के तले कमलो को हिलाने वाली मलय-समीर को हिम तथा विष से अधिक नहीं माना (अर्थात् उसके लिये मलय-पवन भी बर्फ और जहर के समान पीडादायक थी ॥२१॥

वायु से हिलते वृक्षो वाले उद्यान में रमण करने की इच्छुक दूसरी दयालु नायिका ने, मल्लिका के फूलो को बीनने का यत्न करते हुए बिल्कुल नए प्रिय को रोक दिया ॥२२॥

कुम्भ-तुल्य कठोर स्तनो को आनन्द देने वाले प्रियतम के हाथ ने मनोरम एवं विस्तृत कुंज में, प्रथम समागम से व्याकुल प्रिया को सरस मौसमी पत्तो से पखा किया ॥२३॥

सुन्दर सरोवरो मे खिले कमलो की पक्तियाँ, जिन पर भौंरे बैठे थे, ऐसे शोभित हुई मानो जल देवता ने शरत् के नवीन सौन्दर्य को देखने के लिये अपनी आँखें सैकडो प्रकार से फैलायी हो ॥४१॥

जल स्वच्छ हो गया, चावल पक गये, हस शब्द करने लगे, कमल खिल उठे। मानो शरद् ऋतु के गुण मिलकर आनन्दपूर्वक सभी जलाशयों मे उतर गये ॥४२॥

पृथ्वी पर कोई शरद् रूपी वृद्धा विजयी है (उत्कर्ष सहित विद्यमान है), उसमे चचल बादल जल से रहित हैं, वह खिले हुए काश-पुष्पो रूपी चमकीले श्वेत केशो से अङ्कित है और उसके पके चावलो के कण रूपी दांत गिर गये हैं। वृद्धा के स्तन दूध से खाली होते हैं, उसके सफेद बाल काश के फूलो के समान होते हैं और चावलो जैसे उसके दाँत गिर जाते हैं) ॥४३॥

शरत्काल मे मदमस्त साण्ड धरती खोदकर अपने सिर पर धूल फेकते हैं। क्या मदान्ध बुद्धि वाले कभी उचित और अनुचित का विचार करना जानते हैं ? ॥४४॥

वर्षा के बीतने पर (अर्थात् शरद् मे) नदियो और मोरो ने क्रमश. उद्धतता और अहकार छोड दिया। बल और पुष्टि देने वाले प्रिय जन के चले जाने पर किसके दर्प रूपी धन का नाश नही होता ? ॥४५॥

उसमे, निरन्तर जल बरसाने के कारण श्वेत बादलो से आच्छादित आकाश को, छरहरे शरीर पर चन्दन का लेप लगी नारी के समान देखकर कौन प्रसन्न नही हुआ ? ॥४६॥

इसके बाद जैसे तेज वायु पुष्पवाटिकाओ को हिलाती है, उसी प्रकार दरिद्रो के परिवारो को कपाती हुई हेमन्त ऋतु आई, जिसमे सूर्यमण्डल आग की चिंगारी मे बदल गया था (अर्थात् उसका तेज मन्द पड गया था) ॥४७॥

उसमें दिन, दुष्टो की प्रीति की तरह धीरे-धीरे लगातार छोटे होते गये और सर्दी सज्जनो के प्रेम की तरह प्रतिदिन बढने लगी ॥४८॥

विलासिनियो ने मोतियो की उज्ज्वल माला को छोडकर तेज आग का सेवन किया। बुद्धिमान् को समय पर शत्रु का भी आश्रय लेना चाहिये ॥४९॥

तदनन्तर गुणो मे अशीतल (अर्थात् गर्म प्रकृति वाली) शिशिर ऋतु आयी, जिसमें विरहिणियो के मन-रूपी वनो मे काम की ज्वाला भडक उठती है और हिमपात से कमलो के वन जल जाते हैं ॥५०॥

वसन्त मे जो भौंरे खिले स्वर्णकमलो के वन में स्वेच्छा से मकरन्द का पान करते थे, वे भी माघ मे बबूलो पर मडराते हैं। विधाता की गति विचित्र है ॥५१॥

उस ऋतु मे यद्यपि युवतियो ने चन्दनादि के लेप, कमलशय्या, मालादि को छोड दिया था तथापि उन्होने केवल शीत के बल से योगियो के भी मनो को वशीभूत कर लिया ॥५२॥

केतकी, चम्पक, कुन्द तथा कमलो के पाले से मर जाने पर भौंरा शिरीष-वन मे घूमने लगा। जग मे सभी ऊपर उठे हुए व्यक्ति का सहारा लेते हैं ॥५३॥

प्रभु ने ऐसी मनोरम ऋतुओ मे भी कभी विषयो की इच्छा नही की। वन मे रहता हुआ भी मृगराज सिंह क्या कभी मधुर फल खाता है? ॥५४॥

वीर काम ने जगत्पूज्य प्रभु पर जो जो अचूक शस्त्र चलाया, वह-वह इस प्रकार निस्तेज (निष्फल) हो गया जैसे क्षीर सागर मे इन्द्र का वज्र ॥५५॥

तब एक दिन प्रभु खेलते हुए शस्त्रशाला में पहुँचे। वहाँ उन्होंने नारायण के पाञ्चजन्य शख को देखकर उसे अपने रक्ताभ हाथ मे ऐसे उठा लिया जैसे उदयाचल अपनी चोटी पर चन्द्रबिम्ब को धारण करता है ॥५६॥

तीनो लोको के स्वामी के कर-कमल पर रखा बर्फ के गोले से भी अधिक उज्ज्वल वह शख, प्रफुल्ल कमल पर बैठे हंस शावक की शोभा को चुरा रहा था ॥५७॥

जिनेन्द्र द्वारा फूंके गये उस पाञ्चजन्य से बजते हुए तबले की भाँति शब्द पैदा हुआ। वह मथे जाते समुद्र की गर्जना के समान गम्भीर था तथा एक साथ सभी दिशाओ में व्याप्त हो गया था। उसने श्रीकृष्ण के स्पृहापूर्ण हृदय मे भय पैदा कर दिया, जिससे वे नितान्त अपरिचित थे। पर्वतो की गुफाओ से उठी प्रतिगूंज से वह तीव्र हो गया। प्रलय काल के समान उसने तीनो लोको को शब्द से भर दिया और उसे मेघ-गर्जना समझकर मयूरियाँ नाचने लगी ॥५८-६०॥

तब कुछ हैरान हुए मुरारि ने, प्रभु के अथाह बल को जानने की इच्छा से, मुस्करा कर भगवान् को कहा—भाई! मेरी भुजा तो झुकाओ ॥६१॥

भगवान् ने नारायण की भुजा को कमलनाल की तरह आसानी मे झुका दिया। हाथी की सूण्ड तभी तक दृढ होती है जब तक उसे सिंह नहीं छूता ॥६२॥

इसके बाद श्रीकृष्ण ने संसार के एक मात्र स्वामी नेमिप्रभु की लम्बी भुजा को पकडा किन्तु उसे झुकाने मे सफल नही हुए। उस समय वे कल्प-वृक्ष की शाखा पर लटके बन्दर के समान लगते थे ॥६३॥

तब प्रभु ने नारायण को कहा—"हे लक्ष्मीपति! तुम निर्भय होकर इस समूचे राज्य का स्वेच्छा से पालन करो। समर्थ होते हुए भी मुझे इसकी चाह नहीं" ॥६४॥

लक्ष्मी, सौन्दर्य, विलास, वश, घर, नारियो के आलिंगन की कामना छोडकर, वैषयिक सुख को तत्त्वत कष्टकर एव तुच्छ मानते हुए तथा अक्षय आनन्द के हेतु ज्ञान, तोष तथा शान्ति के सुख का भोग करते हुए जिनेन्द्र इस प्रकार पिता के घर मे, यौवन मे भी, शान्त (विषयो से विमुख) रहे ॥६५॥

नवम सर्ग

यह जानकर कि नेमिप्रभु भोग भोगने योग्य हो गये हैं, माता-पिता ने पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर एक दिन श्रीकृष्ण को यह कहा ॥१॥

पुत्र! ऐसा प्रयत्न करो कि यह नेमिकुमार वधू का हाथ स्वीकार कर ले, जो भोग-सम्पदाओं का चिह्न है ॥२॥

श्रीकृष्ण ने यह बात अपनी सब पत्नियों को कही! ऐसे कार्यों में बहुधा स्त्रियाँ ही निपुण होती हैं ॥३॥

तब एक दिन श्रीकृष्ण की सत्यभामा आदि पत्नियों ने नेमि को चतुर शब्दों में स्नेहपूर्वक यह कहा ॥४॥

नेमिनाथ! यौवन की यह मनोहर श्री प्रतिक्षण इस प्रकार क्षीण हो रही है जैसे रात्रि के अन्तिम भाग में चन्द्रमा की किरणों की राशि ॥५॥

इसलिये तुम भोगों को न भोग कर इस पवित्र यौवन को जंगल में गड़े धन की तरह क्यों ऐसे व्यर्थ गवा रहे हो ॥६॥

नेमि! तुम्हारा रूप सबको मात करने वाला (सर्वोत्तम) है, सौन्दर्य जगत् को प्रिय है, चातुरी अवर्णनीय है, सलोनापन अनुपम है। इन्द्र भी तुम्हारी प्रभुता की कामना करते हैं। तुम्हारी महिमा देवताओं की भी पहुँच से परे है। हे कुमार! अधिक क्या, जग को आनन्द देने वाले समूचे गुण तुम्हारे में इस प्रकार विद्यमान हैं जैसे तारे आकाश में ॥७-९॥

परन्तु विभूति, सौन्दर्य, रूप आदि मनुष्यों के गुण पत्नी के बिना ऐसे अच्छे नहीं लगते जैसे रात्रि के बिना चाँदनी ॥१०॥

इसलिये हे बुद्धिमान् देवर! रति में विघ्न डालने वाली लज्जा को छोड़ो और यौवन-वृक्ष का फल तुरन्त ग्रहण करो ॥११॥

हे कुमार ! चपलनयनी युवतियो मे विवाह करो और उनके साथ भोगो को इस प्रकार भोगो जैसे देवता अप्सराओ के साथ ।।१२।।

जो रूप और सौन्दर्य से सम्पन्न, शील रूपी आभूषण को धारण करने वाली, लावण्यामृत वहाने वाले घने तथा कठोर स्तनो से युक्त, स्वर्णकमल के आन्तरिक भाग के समान गोरी, मृगनयनी कुलीन युवती को नही भोगते, वे निश्चय ही विधाता द्वारा ठगे गये हैं ।।१३-१४।।

संसार मे जो सारपूर्ण है, वह निश्चय ही ये मदमाती युवतियाँ हैं। यदि वे तुझे सारहीन प्रतीत होती हैं, तो तू गधे के समान मूर्ख है ।।१५।।

नेमि ! वास्तविकता यह है, फिर भी हम तुम्हारी बुद्धि (विचारधारा) को नही जानती या तुम सचमुच सिद्धि रूपी स्त्री के समागम के इच्छुक हो ।।१६।।

हे यादव ! यह निश्चित है कि मोक्षावस्था मे भी सुख ही भोगा जाता है। वह यदि यही (ससार मे) मिल जाए, तो बताओ उसमे (मोक्ष के सुख मे) क्या विशेषता है ? ।।१७।।

भाभियो की ये विवेकहीन बाते सुनकर जगत्प्रभु ने कुछ हस कर निपुणता से यह कहा ।।१८।।

अरी ! तुम मन्दमति हो। तुम बेचारी वास्तविकता को नही जानती अथवा कामान्ध व्यक्तियो को वास्तविकता का ज्ञान कहाँ हो सकता है ? ।।१९।।

जो परम तत्त्व को नही जानता, वही वैषयिक सुख की प्रशसा करता है। जिसने पियाल का फल नही देखा, वहीं पकी निबोली को मीठा कहता है ।।२०।।

अथवा जिसने जो देखा है, वह उसी की सराहना करता है। इसीलिये ऊँटनी नीव को ही मीठा समझती है ।।२१।।

कहाँ सामान्य वस्तुओ से बना लड्डू और कहाँ घी का लड्डू ? यह विषयो का सुख कहाँ और चिदानन्द से उत्पन्न सुख कहाँ ? ।।२२।।

नाम और अक्षरों की समानता होने पर भी इन दोनो सुखो के स्वाद मे, गाय और स्नुही के दूध की तरह निश्चय ही महान् अन्तर है ॥२३॥

कामज्वर से पीडित विवेकहीन व्यक्ति ही धर्म रूपी लाभकारी ओषधि को छोड़कर नारी रूप औषध का सेवन करते हैं, जो आपाततः मधुर किन्तु अन्तत. कष्टदायक है ॥२४॥

जैसे जल से सागर को और इ धन से आग को, उसी प्रकार वैषयिक सुखो से आत्मा को कदापि तृप्त नही किया जा सकता ॥२५॥

ब्रह्मलोक मे अनन्त तथा अक्षय सुख भोगती हुई यह प्रकाशस्वरूप शाश्वत आत्मा ही (नित्य) है ॥२६॥

तुम इसके वाद पुन ऐसा मत कहना। गवार लोगो के लिये उचित बात शिष्ट व्यक्ति को नही कंही जानी चाहिए ॥२७॥

तुम सदा पास रहती हुई भी मेरे स्वभाव को नही जानती जैसे मेंढक साथ रह कर भी कमल की सुगन्ध को नही जान पाते ॥२८॥

प्रभु की बात सुनकर उन सब भाभियो ने पुनः सच्चे तथा सीधे शब्दो में यह कहा ॥२९॥

हे नरशिरोमणि ! जगत्पूज्य ! जिनेन्द्र श्री नेमिनाथ ! आपने जो कुछ कहा है, वही सत्य है ॥३०॥

और हे पूज्य ! हम जानती हैं कि ये विषय तुम्हारे मन को तुष के ढेर के समान रसहीन (निस्सार) प्रतीत होते हैं ॥३१॥

किन्तु पुत्रों को, विशेषकर विचार और आचार के ज्ञाता तुम्हारे जैसों को, अपने माता-पिता का सम्मान करना चाहिये ॥३२॥

पुत्र अपने कष्ट का विचार किये विना माता-पिता को प्रसन्न करते हैं। माता-पिता को कन्धे पर ढोने वाला श्रवण कुमार इसका उदाहरण है ॥३३॥

और अच्छे पुत्र माता-पिता के सुख के लिये ही कार्य करते हैं। चांद (अपने पिता) सागर की प्रसन्नता के लिए सदा आकाश में घूमता है ॥३४॥

संसार में निस्पृह महात्मा दया के वशीभूत होकर दूसरों पर अनुग्रह करने की इच्छा से ही कार्य करते हैं ॥३५॥

जैसे चन्द्रमा समूचे संसार को प्रसन्न करता हुआ भी कुमुदों को, आत्मीय समझ कर, अधिक आनन्दित करता है, हे विश्वेश ! उसी प्रकार जगत् को आह्लादित करने वाले तुम्हें भी अपने कुटुम्ब को विशेष रूप से प्रसन्न करना चाहिये ॥३६-३७॥

अथवा हम अधिक क्या कहें। आप स्वयं त्रिकालज्ञ हैं। भगवान् ही इहलोक और परलोक की स्थिति को जानते हैं ॥३८॥

इसी बीच शिवा ने पास आकर और प्रभु को बांह में पकड़ कर कहा—कुमार ! मैं तुम्हारी आंखों पर बलि जाती हूं ॥३९॥

पुत्र ! प्रसन्न हो और तुरन्त विवाह स्वीकार कर। हे नरश्रेष्ठ ! माता-पिता की इच्छाओं को अवश्य पूरा करना चाहिये ॥४०॥

तब जगत् के स्वामी ने, निस्स्पृह होते हुए भी, माता-पिता के आग्रह से उनकी बात मान ली क्योंकि उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता ॥४१॥

तब सारे यादव, विशेषतः शिवादेवी और समुद्रविजय, बन्धुओं समेत प्रसन्न हो उठे ॥४२॥

और इधर कमल के समान आंखों वाला राजा उग्रसेन था। वह भोजराज का पुत्र था और उसकी सेना उग्र थी ॥४३॥

वह पराक्रमी रणभूमि में शत्रुओं के प्रताप और यश को ऐसे ग्रस लेता था जैसे उच्च स्थान में स्थित राहु चन्द्रमा और सूर्य को ॥४४॥

प्रतिपक्षी राजा, हाथ में तलवार लेकर युद्ध के लिये तैयार उसे प्रसन्न करके, यह सूचित करने के लिये कि हम लड़ने से अनभिज्ञ हैं, उसे तलवारें भेंट करते थे ॥४५॥

प्रातःकाल सामन्तो के द्वारा भेंटकिये गये हाथी वहते मदजल से उसके सभामण्डप को गीला करते थे ॥४६॥

वह दीन जनो का सहारा, शरणार्थियो का रक्षक, गुण रूपी रत्नो का कोश और कीर्त्ति रूपी लताओ का उद्यान था ॥४७॥

वह लक्ष्मी और सरस्वती का खजाना, वल रूपी हाथियो का वन्धन-स्तम्भ, नीतिलताओ का आलवाल (थौला), और कुल रूपी घरो का खम्भा था ॥४८॥

उस राजा की जिसके कमल के समान आंखो वाली पुत्री राजीमती इन्द्र की कन्या जयन्ती जैसी थी ॥४९॥

वह शील रूपी रत्न की मजूषा, सौन्दर्यजल की वावडी, सौभाग्य रूपी कन्द की वेल और रूप-सम्पदा की सीमा थी ॥५०॥

वह चन्द्रकला के समान निर्मल, कमलनाल के समान कोमलांगी, मेघमाला की भांति काम्य और हरिणी की तरह सुन्दर आंखो वाली थी ॥५१॥

उसके मुख से पराजित होकर चन्द्रमा लघुता (छोटेपन, हल्केपन) को प्राप्त हो गया है । वायु द्वारा रूई की तरह ऊपर उडाया गया वह आकाश मे (मारा-मारा) फिरता है ॥५२॥

भोली-भाली तथा स्नेह पूर्ण पुतलियो वाले उसके नेत्र, जिसके बीच में भौंरा वैठा है ऐसे नीलकमल की शोभा को मात करते थे ॥५३॥

लावण्यरस से परिपूर्ण उसके कलश-तुल्य स्तन ऐसे प्रतीत होते थे मानो उसके वक्षस्थल को फोड कर काम के दो कन्द निकल आए हो ॥५४॥

उसकी कदली-स्तम्भ के समान कोमल जघाएँ ऐसी लगती थी मानो काम के दुर्द्धर्ष हाथी को वांधने के दो खम्भे हो ॥५५॥

मैं समझता हूँ कि उसके चरणों के सौन्दर्य की शोभा से पराजित कमल अब भी भय से कांपता हुआ वन मे रहता है ॥५६॥

उसके रूप के सौन्दर्य से पराजित देवांगनाएँ लज्जित-सी होकर लोगों को अपना मुँह नहीं दिखाती ॥५७॥

वह महिलाओं के उज्ज्वल तथा प्रशस्त गुणों से, जिनमें रूप, प्रेम, लज्जा तथा सुशीलता मुख्य थे, इस प्रकार व्याप्त थी जैसे चन्द्रकला किरणों से ॥५८॥

यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने अपने बन्धुओं के साथ उग्रसेन से उस सुकुमारी युवती को नेमिकुमार के लिये मागा ॥५९॥

उग्रसेन ने भी, जिसकी आँखें प्रसन्नता से खिल उठी थी, कहा कि हम तो इस बात के कथन मात्र से आनन्दित हो गये ॥६०॥

सत्पुरुषों का सम्बन्ध तो दूर, उनकी बात भी अतीव आनन्द देती है। चन्द्रमा तो दूर, चाँदनी ही चकोरों को प्रसन्न कर देती है ॥६१॥

हे माधव! हम दोनों के सम्बन्ध के बीच यदि यह सम्बन्ध (भी) हो जाए, तो मैं मानूँगा कि खीर मे खाण्ड मिल गयी है ॥६२॥

मैं कुमारी राजीमती कुमार अरिष्टनेमि को देता हूँ। रोहिणी और चन्द्रमा की भांति इनका मिलन कल्याणकारी हो ॥६३॥

तब यह सुन्दर सम्बन्ध हो जाने पर दोनों ही सम्बन्धियों ने अपना कार्य आरम्भ किया जैसे जल और बीज अंकुर के लिये अपना काम करते हैं ॥६४॥

हर्ष रूपी जल के सागर भोजदेश के राजा उग्रसेन ने अपने मन्त्रियों को बार-बार आदेश दिया कि विवाह के लिये जो-जो वस्तुएँ चाहियें, आप उन सबको अभी तैयार करो ॥६५॥

———

दशम सर्ग

तब सखी के मुख-रूपी चन्द्रमा से झरते इस समाचार-रूपी अमृतरस का पान करती हुई भोजराज की चकोरनयनी पुत्री (राजीमती) को, चकोरी की भाँति, तृप्ति नही मिली ॥१॥

उसने सखी से बार-बार पूछा कि 'क्या यह मजाक है अथवा तू सच बोल रही है।' यदि तू मेरे सामने सच्ची बात नही कहती तो तुझे माता-पिता की सौगन्ध ॥२॥

इधर मन्त्रियो ने समुद्रविजय, कृष्ण और बलराम को सूचित किया कि हे नरनायको ! विवाह की समूची उत्तम सामग्री तैयार है ॥३॥

गदी धूल को साफ करके नगर की सडको पर सुगन्धित जल का छिडकाव कर दिया है। उनके ऊपर रग-बिरगे चम्पक, जपा, चमेली आदि के फूल बिखेर दिये हैं। आकाश काफूर, अगुरु और धूप के धुंए से भर गया है। बन्दियो को छोड दिया गया है। वे नेमिप्रभु को आशीर्वाद दे रहे हैं ॥४॥

और मणिखचित सोने के मनोहर तोरण खडे कर दिये हैं, कदली-स्तम्भो के कारण सुन्दर अत्युच्च मण्डप बना दिये गये हैं और उत्तम मोतियो, स्वर्णकन्दलो तथा हिलती मणियो से उज्ज्वल और विविध चित्रो से युक्त रमणीय चँदोए लगा दिये हैं ॥५॥

तब निकटवर्ती उद्यान मे ऊंचे वृक्षो की ठण्डी छाया में बैठे हुए यात्री द्वारिका को देखकर मन मे यह सोचने लगे कि क्या यह स्वर्गपुरी अथवा नागपुरी (पाताल या सोने की लका अथवा अलका नगरी पृथ्वी पर आ गयी है ॥६॥

ये कुलीन, हितैषी, शृंगार की सारभूत, भोली-भाली तथा स्नेहमयी नारियाँ निरन्तर मंगल गा रही हैं। ये मस्त लड़के हँसी और कौतुकों में व्यस्त हैं। और ये सामन्त राजा उपहार लिये द्वार पर खड़े हैं ॥७॥

ये सुन्दर आँखों वाली गणिकाएं, जिन्होंने पावों में मधुर शब्द करने वाली पायजेबें पहन रखी हैं तथा जिनका खनकते घुंघरूओं से स्पष्ट पता चल रहा है, नृत्य में लीन हैं। ढोल, मर्दल, ताल, बाँसुरी, पणव आदि वाद्य बजाने वाले ये गन्धर्वों के गण, जिनका स्वर किन्नरों के समान मधुर है, (गाने के लिये) आए हैं ॥८॥

अद्भुत विन्यास वाली भूषा को पहन कर उत्कृष्ट शोभा से सम्पन्न और राग-रहित होते हुए भी अनुपम अंगराग (बटना) धारण करके जगत्प्रभु नेमिनाथ ने रथ पर सवार होकर विवाह के लिये प्रस्थान किया। उनके साथ चलते राजा ऐसे लगते थे जैसे इन्द्र के संग देवगण! ॥९॥

यादवों के करोड़ों कुल आनन्दपूर्वक उनके पीछे ऐसे चले जैसे लक्ष्मी पुण्यशाली व्यक्ति का, सुशील स्त्रियाँ अपने पति का, स्पष्ट टीकाएं सूत्र के अर्थ का, ताराएं चन्द्रमा का, बुद्धि मनुष्य के कर्म का और इन्द्रियों के कार्य हृदय का अनुगमन करते हैं। १०॥

तब अन्य कार्यों से हटकर जिनेश्वर को देखने को अतीव उत्सुक शहर की चपलनयनी नारियों की चेष्टाएं इस प्रकार हुई ॥११॥

झरोखे की ओर तेजी से जाती हुई किसी स्त्री ने, जिसके पाँव ताजे लाक्षारस से रंगे थे, मणियों के फर्श पर अपने चरण-कमलों के चिन्हों से कमलों की भ्रान्ति पैदा की ॥१२॥

कोई दूसरी, जिसके चरण-कमल नूपुरों से शब्दायमान थे, हाथों के गीले प्रसाधन के पुंछने के भय से, गिरे हुए उत्तरीय को वहीं छोड़कर झट खिड़की की तरफ दौड़ गयी ॥१३॥

प्रभु को देखने की इच्छा से सहसा उठी हुई किसी अन्य स्त्री ने, अधगुथे हार से गिरते हुए मोटे-मोटे मोतियो से भूमि को पग-पग पर अलकृत कर दिया ॥१४॥

खिडकी मे बैठी किसी स्त्री के चबाने के लिए तैयार किये गये चूर्णमिश्रित पान का आधा भाग उसके मुह मे रह गया और आधा हाथ मे ॥१५॥

प्रभु के रूप को देखकर आनन्दातिरेक के कारण एकटक दृष्टि लगाए हुए किसी दूसरी ने, बहरी की भाँति, समीपस्थित सखी के शब्द को नही सुना, यद्यपि वह उसे बार-बार पुकार रही थी ॥१६॥

कोमल हाथो से पानी के घडे को खीचती हुई और इसीलिए कन्धो तथा आँखो को ऊपर किये हुए कोई, खिचे धनुष की तरह, खडी रही। ओह ! स्त्रियो मे देखने की कितनी आतुरता होती है ॥१७॥

दूसरी, कमल-तुल्य एक आंख को आज कर और दूसरी को आजने के लिये सलाई पर काजल लेती-लेती जल्दी-जल्दी झरोखे की ओर भाग गयी ॥१८॥

किसी स्त्री ने सुवर्ण गृह के झरोखे के अन्दर से, आकाश मे (निकले) आनन्ददायक चन्द्रमा की तरह प्रभु को राजपथ पर आया देखकर, दोनो हाथ जोडकर तथा सिर झुकाकर उन्हे प्रणाम किया ॥१९॥

'सखि ! केवल एक क्षण प्रतीक्षा करो। मैं भी घर बन्द करके आ रही हूँ' ऐसा कहती हुई अपनी सखी की परवाह न करके कोई स्त्री आसन से उठकर भाग गयी ॥२०॥

कुछ स्त्रियो ने, घर की खिडकी मे स्वेच्छा से एक दूसरे के साथ टकराने के कारण हारो से गिरे मोतियो और रत्नो के समूह को पुष्पराशि की तरह रास्तों मे बिखेर दिया ॥२१॥

एक अन्य स्त्री विशाल थाल मे परसे गये उस भोजन को छोडकर जो देवताओ को भी दुर्लभ है, द्वार की ओर चल पडी। सचमुच स्त्रियो की दृष्टि चंचल होती है ॥२२॥

कोई विशाल गाल पर कस्तूरी और कुकुम से पत्रवल्ली की रचना करते हुए प्रसाधिका के हाथो को हटा कर अचानक गवाक्ष मे भाग गयी ॥२३॥

तव खिडकी मे बैठी कामिनियो के मुखो को देख कर नीचे धरती पर खडे लोगो को यह आशका हुई कि क्या आज आकाश मे हजारो चांद निकल आए हैं ? ॥२४॥

तत्पश्चात् प्रभु, जिनकी देवागनाएँ प्रशसा कर रही थी और मनुष्य एव देवता सेवा कर रहे थे तथा जिनमे छत्र के द्वारा गर्मी दूर कर दी गयी थी, भोज के घर के पास पहुचे ॥२५॥

उस समय सखियो ने राजीमती को कहा—सखि ! देख, देख। देवागनाओ के लिये भी दुर्लभ यह तेरा वर नेमिनाथ तेरे भाग्य से खिच कर आया है ॥२६॥

ये यादव-नृपतियो की स्त्रियाँ आनन्द के कारण अपने कठोर तथा पुष्ट स्तनो से आपस मे टकराती हुई गीत गा रही हैं। ये मगलपाठक जयजयकार से कोलाहल कर रहे हैं। और समूची दिशाओ को वहरी करता हुआ यह वाद्यो का शब्द सुनाई पड रहा है ॥२७॥

तव जगत् के एकमात्र बन्धु नेमिप्रभु ने, वाडे की कारा मे पडे, हिम-पीडितो के समान कांपते हुए तथा वन्दी डाकूओं कीतरह त्रस्त आंखो वाले पशुओ को देखकर सूत को कहा ॥२८॥

हे वाक्पटु सारथि ! वता, इन वेचारो ने पूज्य पिता अथवा वलराम का, भोज अथवा कृष्ण का क्या अपराध किया है, जो इन्हे यहाँ ऐसे वन्द किया गया है ॥२९॥

दाहिनी ओर स्थित सूत ने उत्तर दिया कि इन्होने किसी का भी अपराध नही किया है पर इनसे यादवो का ठाटदार भोजन बनेगा ॥३०॥

तब प्रभु ने कहा—हे सारथि ! सुनो। जो इसे भोजन का गौरव मानते हैं, उन्हे नरक मे ही महत्त्व मिलता है, उन्हे स्वर्ग नही बुलाता अर्थात् उन्हे स्वर्ग का सुख नहीं मिलता ॥३१॥

और फिर विश्व के एक मात्र बन्धु (नेमिनाथ) की परम कृपा से उन सब पशुओ को शीघ्र ही बन्धन से मुक्ति मिल गयी। उन जैसो की महिमा अचिन्तनीय है ॥३२॥

तब सूत ने स्वामी की आज्ञा से रथ को विवाहगृह से वापिस मोड लिया जैसे-योगी ज्ञान की प्रबल शक्ति से अपने मन को बुरे विचार से तुरन्त हटा लेता है ॥३३॥

नेमि को वापिस जाते देखकर उनके सारे सम्बन्धी, घबराहट से यह कहते हुए कि 'यह क्या हो गया है' इस प्रकार उनके पीछे दौडे जैसे डरे हुए हरिण यूथ के नेता के पीछे भागते हैं ॥३४॥

नेमिनाथ ने उन्हे अमृत और चन्दन के समान शीतल वाणी से इस प्रकार प्रबोध दिया जैसे रात्रि के समय चन्द्रमा अपनी किरणो से कुमुदवनो को विकसित करता है ॥३५॥

आप सुनें, धर्म और पाप निश्चय ही सुख और दुःख के प्रख्यात कारण हैं और उनके (धर्म और पाप के) कारण और करुणा हिंसा प्रसिद्ध हैं। ऐसा होने पर बुद्धिमान् को क्या करना चाहिए ? ॥३६॥

अतः सुख चाहने वाले व्यक्ति को सदा दया करनी चाहिये। वह सब प्राणियो की रक्षा से होती है। उसके (जीवरक्षा के) इच्छुक बुद्धिमान् को सब प्रकार की आसक्ति छोड़ देनी चाहिए ॥३७॥

उसी समय शरीर की देदीप्यमान कान्ति से समूची दिशाओं को प्रकाशित करते हुए लोकान्तिक देवों ने प्रभु से स्तुतिपूर्वक यह निवेदन किया ॥३८॥

सुरों और असुरों को झुकाने वाले आपको नमस्कार, काम को जीतने वाले आपको नमस्कार, विकसित मुखकमल वाले आपको नमस्कार समूचे जगत् के हितैषी आपको नमस्कार ॥३९॥

हे पूज्य ! आपकी यह आकृति ही स्पष्ट कह रही है कि आप समस्त दोषों से मुक्त हैं। सज्जन की बाह्य चेष्टा उसके स्वरूप को पहले ही व्यक्त कर देती है ॥४०॥

हे जिनेन्द्र ! दीपक की तरह एक देश को प्रकाशित करने में तत्पर तीर्थंकर घर-घर में हजारों हैं किन्तु सूर्य के समान संसार को द्योतित करने वाले केवल एक आप ही हैं ॥४१॥

हे परमार्थवेद्य ! आप कृपा करके तुरन्त निर्मल धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करें, जिसे पाकर भव्य जन अगाध भवसागर को जल्दी पार कर जाते हैं ॥४२॥

तब प्रभु ने पृथ्वी पर इच्छानुसार वार्षिक दान प्रारम्भ किया जैसे पुष्कर और आवर्तक वंश में उत्पन्न मेघ अपरिमित जल बरसाता है ॥४३॥

तत्पश्चात् नेमिनाथ भोजराज की स्नेहमयी एवं बुद्धिमती पुत्री (राजीमती), साम्राज्यलक्ष्मी तथा आत्मीय जनों को छोड़ कर और पूज्य माता-पिता से अनुमति लेकर दीक्षा ग्रहण करने को तैयार हो गये ॥४४॥

दीक्षा का समय जानकर इन्द्र ने, शची के पुष्ट स्तनों रूपी कमल-कोशों के भ्रमर अपने हाथ में जिसने वज्र उठाया हुआ था, जिसके गाल चमकीले कुण्डलों की प्रभा से अतीव शोभित थे, तथा जो हिलती हुई पताकाओं से सूचित घुंघरूओं के शब्द से गुंजित विमान में सवार था, देवताओं के साथ आकर नेमिनाथ को नमस्कार किया ॥४५-४६॥

देवताओ और मनुष्यो ने पहले जिनेन्द्र को शुद्ध जल मे स्नान कराके दिव्य लेपो का लेप किया, फिर उन्हे प्रमुख वस्त्रो तथा आभूषणो से विभूपित किया ॥४७॥

तव वढिया पन्ने के समान कान्ति वाले नेमिप्रभु, जिनका कण्ठ उज्ज्वल रत्नो की माला तथा मोनियो से अलकृत था, इन्द्रधनुष से युक्त मेघ की तरह शोभित हुए ॥४८॥

इसके बाद देवो और असुरो के स्वामियो तथा प्रमुख यादवो ने जव उस महान् उत्सव को सम्पन्न कर दिया तो जिनेश्वर ने, राजाओ, नागेन्द्रो, सुरेन्द्रो तथा चन्द्रो द्वारा उठायी गयी, मणियो तथा मोतियो की मालाओ से मनोहर, स्वर्णनिर्मित विमान-तुल्य पवित्र पालकी मे बैठ कर द्वारिका के राजपथ पर प्रस्थान किया ॥४६-५०॥

तव व्रत ग्रहण करने के इच्छुक जगदीश्वर उर्जयन्त पर्वत के आम्रवन मे पहुँचे । हजारो शब्दो मे उनका अभिनन्दन किया जा रहा था, हजारो नेत्र उन्हें देख रहे थे, हजारो सिर उनकी वन्दना कर रहे थे, हजारो हृदय उन्हे अपने मे धारण कर रहे थे, नर, देव तथा दैत्य उनकी स्तुति कर रहे थे और देवागनाएँ मगलगान गा रही थी ॥५१-५२॥

वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे पालकी रखवा कर नेमिनाथ उससे उतर गये । तव उस वीतराग ने समस्त वस्त्रो, भूषणो आदि को छोडकर हजारो कुलीन पुरुषो के साथ दीक्षा ग्रहण की, जो सिद्धि रूपी स्त्री का आलिंगन प्राप्त कराने वाली चतुर दूती है ॥५३॥

———

एकादश सर्ग

इसके पश्चात् प्रभु द्वारा छोडी गयी भोजराज की पुत्री बेचारी राजीमती, जिसका शरीर (दुःख से) शिथिल हो गया था, पृथ्वी पर गिर कर आँसू बहाती हुई विलाप करने लगी ॥१॥

हे विश्ववन्धु स्वामी ! मेरे प्रति तुम्हारा यह निष्ठुर व्यवहार क्यो ? पक्षी भी अपनी सहचरियो को छोड कर जीवित नही रहते ॥२॥

हे बुद्धिमान् ! आपने मुझे कभी प्रत्यक्ष देखने की भी कृपा नही की, तो मुझ अबला पर आपका इतना क्रोध क्यो ? ॥३॥

नाथ ! यदि तुम अपराध के विना ही मुझे छोड कर, पहले अनेक पुरुषो द्वारा भोगी गयी दीक्षा-रूपी नारी का स्वीकार करते हो, यह तुम्हारे कुल के लिये उचित नही ॥४॥

यदि सत्पुरुष भी ऐसा (कुकर्म) करते है, तो यह बात किसे कही जाए (अर्थात् किससे शिकायत की जाए)। अथवा समुद्र को अपनी मर्यादा का उल्लघन करने से कौन रोक सकता है ॥५॥

नाथ ! यदि आप सब प्राणियो पर दया करते हैं, तो क्या मैं प्राणी नही हूँ ?, जो आपने सज्जनो की करुणा की पात्र मुझ दीना को ऐसे छोड दिया है ॥६॥

प्यारे प्रभु ! आप ही कल्पवृक्ष की तरह ससार की इच्छाओ को पूरा करते हैं। मेरी आशा को आपने क्यो नष्ट कर दिया है ? ॥७॥

प्रभु ! मेरा मन चुरा कर वन मे जाना आपके लिये शोभनीय नही है क्योंकि बुद्धिमान् परायी चीज लेकर गुफा मे नही छिपते ॥८॥

विद्वान् जो यह कहते हैं कि "जो हृदय मे अपने आराध्य का ध्यान करता है, वह अभीष्ट वस्तु अवश्य पाता है", क्या यह (कथन) मेरे लिये मिथ्या होगा ॥९॥

मै सचमुच पहले भी राजिमती (दु खो का घर) थी। मेरे और नेमि के बीच मे आकर विधाता ने वही दु:ख राशि मेरे ऊपर डाल दी है! भाग्य निश्चय ही दुर्बल पर मार करता है ॥१०॥

प्रभो! अथवा यह सब निश्चय ही मेरे कुकर्मों का फल है। बादल जो मरुथल को छोड देता है, वह मरु के दुर्भाग्य का दोष है ॥११॥

आत्मीय जनो ने, प्रगाढ शोक से विह्वल तथा पृथ्वी पर लोटती हुई और इस प्रकार करुण विलाप करती हुई उसे स्नेहपूर्ण गोद मे बैठा कर, आँसूओ से लडखडाते हुए कहा ॥१२॥

सयानी बेटी राजीमती! धीरज रख, शोक छोड। भाग्य के विपरीत होने पर मनुष्य का क्या-क्या बुरा नही होता ॥१३॥

भाग्य ने किसको नही छला? किसे प्रियजन से वियोग नही मिला? ससार मे कौन सदा सुखी रहता है? किसकी सारी इच्छायें पूरी हुई हैं? ॥१४॥

यदि मनुष्य को रोने से मनचाही वस्तु मिल जाए, तो लगातार व्यर्थ चिल्लाने वाले वाचाल को कभी दु ख ही न मिले! ॥१५॥

धरती पर अचानक गिरते हुए मेरु पर्वत को भले ही कभी रोक लिया जाए किन्तु प्राणियो के सचित कर्मों के शुभाशुभ फल को नही! ॥१६॥

हे विदुषी! प्राणी के ऊपर सम्पत्ति और विपत्ति दिन-रात की तरह अवश्य लौट कर आती हैं। इसलिये अब शोक मत कर। धर्म का पालन कर, जो सब मनोरथो को पूरा करने वाला है ॥१७॥

यह निश्चित है कि प्राणियो के समस्त मनोरथो की पूर्ति पुण्य से ही

होती है जैसे कदम्ब वृक्षो पर नयी कोपलो और फूलो की बहार बादल के छिड़काव (वर्षा) से आती है ॥१८॥

स्वजनो द्वारा इस प्रकार समझाने पर वह विदुषी शोक को छोडकर धर्माचरण मे तत्पर हो गयी। विद्वानो को समझाना आसान है ॥१९॥

उधर राग और रोष से रहित, चन्द्रमा के समान सौम्य कान्ति वाले तथा सुमेरु की भांति धैर्यशाली जिन परब्रह्म के चिन्तन मे लीन हो गये ॥२०॥

करुणारस के सागर, परायी वस्तु को ग्रहण करने से विमुख, हित एव सत्यवादी तथा शीलसम्पन्न मुनिराज मिट्टी और सोने को एक समान मानने लगे ॥२१॥

प्रभु रूपी मस्त हाथी अत्यन्त कठोर तप रूपी सूण्ड के बल से गहन कर्म रूपी वृक्षावली को उखाडता हुआ पर्वतो, वनो आदि मे आनन्दपूर्वक घूमने लगा ॥२२॥

वहाँ जिनेश्वर ने उपसर्ग, परीषह रूपी शत्रुओ की परवाह न करके अतीव दुस्सह तप करना आरम्भ किया। सचमुच तपस्या के बिना आत्मा की शुद्धि नही होती ॥२३॥

तदनन्तर चारित्र रूपी राजा के सैनिको द्वारा अत्यन्त पीडित विषयो ने अपने स्वामी मोहराज के सामने उच्च स्वर मे इस प्रकार पूत्कार किया ॥२४॥

हे स्वामी! चरित्रराज के सैनिक जिनेश्वर नेमि के मन रूपी महानगर पर जबरदस्ती कब्जा करके काम के साथ हमे भी सता रहे हैं ॥२५॥

उसके मद, मिथ्यात्व आदि प्रमुख सैनिको ने इन्द्रियो के समूचे गण को अपने काबू मे कर लिया है, रति का अनेक बार उपहास किया है और नगर के अधिष्ठाता देव की पूजा की है ॥२६॥

स्वामी! सक्षेप मे, शत्रुओ ने परम ध्यान के वल से रति और काम की सेना को इस प्रकार क्रूरता से मथ डाला है जैसे देवो ने मेरु पर्वत से क्षीरसागर का मन्थन किया था ॥२७॥

महाराज! अव अपने शत्रु के विनाश के लिये शीघ्र प्रयत्न कीजिए। मजबूती से जड़जमे शत्रुओ और वृक्षो को बाद मे उखाडना बहुत मुश्किल है ॥२८॥

जिसने बढते हुए शत्रुओ और रोगो को पूर्णत नष्ट नही किया, उसके ऊपर उनसे, कुछ ही दिनो मे, निस्सन्देह घोर विपत्ति आती है ॥२९॥

ससार मे जो राजा शत्रुओ को न मारकर गर्व के कारण निश्चिन्त रहता है, वह मूर्ख आग मे हवि डाल कर उसके पास सोता है ॥३०॥

विषयो के द्वारा यह निवेदन करने पर मोहराज ने मुस्करा कर कहा—ये हरिण (चरित्रराज के सैनिक तव तक आराम से घूमे जब तक यह शेर (मोह) सो रहा है ॥३१॥

मुझे नेमिनाथ रूपी नगर पर शासन करते हुए अनन्त समय वीत गया है। मेरे जीवित रहते पृथ्वी का कौन दूसरा वीर उस पर कब्जा कर सकता है ॥३२॥

तब मोहराज ने अपने तथा शत्रुओ के वल को जानने की इच्छा से सयमराज के पास कुमत नामक चतुर दूत भेजा ॥३३॥

उस वाक्पटु दूत ने चरित्रराज की सभा मे प्रविष्ट होकर, शत्रुओ के हृदय-सागर मे अभूतपूर्व हलचल पैदा करते हुए कहा ॥३४॥

संयमराज! सम्राट् मोह मेरे द्वारा आपको यह सन्देश देते हैं कि नेमिनाथ के मन-रूपी मेरे नगर को छोड़ कर किसी दूसरी जगह चले जाओ! तुम्हारा कल्याण हो ॥३५॥

सयमराज! नेमि के हृदय को छोडते हुए तुम्हे तनिक भी लज्जा नही

होनी चाहिये क्योकि पहले भी बलवानो के आग्रह पर बहुत-से राजाओ ने पृथ्वी छोडी है ॥३६॥

हे चरित्र ! अथवा मेरी दुर्द्धर्ष एव प्रचण्ड सेना के दिखने पर पलायन नामक विद्या पहले ही तुम्हारे वश मे है (अर्थात् मेरी सेना को देखते ही तुम भाग जाओगे) ॥३७॥

हे व्रतराज ! यदि अब तुम नेमि रूपी नगर को नही छोडोगे, तो निश्चित ही तुम नही बचोगे । मैं तुम्हारे चरित्र को जानता हूँ ॥३८॥

सयमराज ! मैंने तुम्हारे सामने अन्ततः हितकारी बात स्पष्ट कह दी है । अब आपको जो भाए वह करो ॥३६॥

कुमत के इस प्रकार बेलगाम बोलने पर, चरित्राधीश की आँख का सकेत पाकर शुद्धविवेक नामक मन्त्री ने मुस्करा कर साफ-साफ कहा ॥४०॥

दूत ! तुमने यह सुन्दर कहा ! तुम वाग्मी हो, बुद्धिमान् हो ! ससार मे आपके अतिरिक्त कौन दूसरा ऐसी बात कहना जानता है ॥४१॥

किन्तु हमने शत्रुओ को धराशायी करके अपने रहने के लिये इस हृदय-नगर पर बलपूर्वक अधिकार किया है । शत्रु मोह के डर से हम इसे कैसे छोड़ दें ॥४२॥

पहले भी सयमराज ने अनेक बार तुम्हारे स्वामी के दुर्गों पर जबरदस्ती कब्जा किया था । अब वह उन्हे अपने सुन्दर नगर समझ कर उनका हर प्रकार से आनन्द ले रहा है ॥४३॥

यदि तुम्हारे स्वामी मे शक्ति है, तो वह भी उन पर अधिकार कर ले । किन्तु वह धोखेबाज़ तेज़ ज़बान से (ही) लोगो को डराता है ॥४४॥

मित्र ! जो तुम्हारे इस धूर्त स्वामी के लक्षण को जानता है, वह उसे अनुयायियो सहित तत्काल आसानी से नष्ट कर देता है ॥४५॥

दूत ! आप अपने उस स्वामी को दुराग्रह से रोको अन्यथा वह निश्चय

ही सयम की शक्तिशाली सेना रूपी आग मे शलभ बनेगा ॥४६॥

सयम के मन्त्री के ऐसा कहने पर शत्रु के दूत ने पुन: यह कहा—हे चरित्र ! मुझे लगता है कि तू और तेरे सारे परिजन मूढ़ हैं ॥४७॥

मैंने जो हितकारी बात कही है, उससे तुम्हे क्रोध ही आया है। अतः यह निस्सन्देह सही है कि मूर्ख को भलाई का उपदेश नहीं देना चाहिये ॥४८॥

वह अग्रगण्य योद्धा राजा मोह कहाँ और कायरो के शिरोमणि आप कहाँ ? किन्तु मन्दान्ध व्यक्ति अपने और शत्रु के बलाबल का विचार नहीं करता ॥४९॥

मित्र ! तुम्हारे स्वामी के सैनिको ने यदि मेरे सैकडो ठिकाने आसानी से तोडे हैं, तो पिता के घर मे बैठे बच्चे की भाँति तुम्हारी इसमें क्या वीरता ?॥५०॥

मित्र ! क्या तुम भूल गये कि पूर्वजन्मो मे मेरे स्वामी ने (आक्रमण के लिये) आये हुए आपको परास्त करके नेमिराज को अपने अधीन किया था ॥५१॥

अरे स्मरणाचार्य ! तुम्हें याद होगा कि मैंने पहले अपने स्वामी की कृपा से तुम्हें खदेड कर तुम्हारे सैनिको को पीडित किया था ॥५२॥

मूर्ख सयम मेरे बलवान् स्वामी का अनादर करके विनाश को प्राप्त होगा। बन्दर द्वारा सिंह का अपमान निश्चित रूप से उसकी मृत्यु का कारण बनता है ॥५३॥

उसके ये अतीव कठोर वचन सुनकर सयम के क्रुद्ध हुए सैनिकों ने कुमत को कस कर गले से पकड कर बाहर निकाल दिया ॥५४॥

और उसने (कुमत ने) राजा मोह की सभा मे जाकर शत्रुओ द्वारा किये गये अपने अपमान का विवरण देते हुए चरित्रनृपति की समूची उत्तम सेना का वर्णन किया ॥५५॥

(यह सुनकर) क्रुद्ध हुए मोहराज ने युद्ध के लिये तैयार होकर अपने सैनिकों को बुलाया। सचमुच स्वाभिमानी बलवान् लोग शत्रु से तिरस्कार सहन नही करते ॥५६॥

इसके बाद स्वाभिमानी राजा मोह ने अपनी सारी मदमस्त सेना को इकट्ठा करके, सयम के साथ युद्ध करने के लिये प्रस्थान किया ॥५७॥

तब सयमभूपति के यह कहने पर कि मेरे सामने शत्रु के प्रमुख सैनिकों के नाम लो, मन्त्री सुबोध ने कहा—स्वामी! सुनो। आपके शत्रु की सेना मे कुमत नामक महाबली योद्धा है, जिसने विविध प्रकार की कपटपूर्ण चेष्टाओं से सारे जग को पीडित कर रखा है ॥५८॥

इसी के द्वारा भ्रष्ट किये गये कुछ लोग लिंग को शीश झुकाते हैं, कुछ ने अपने कुटुम्ब को छोड दिया है और कुछ शरीर पर भस्म रमाते हैं ॥६०॥

नर तथा नारी रूपी रथो मे बैठे हुए पाच विषय इसके अन्य महान् योद्धा हैं, जिन्होंने आप की अवज्ञा करके समस्त लोगो को (अपने जाल से) आवृत कर रखा है ॥६१॥

शत्रु मोह का लालिमा, कम्पन तथा ताप लक्षणो वाला क्रोध नामक पुत्र पैदा हुआ है। वह आग की तरह मनुष्यो के गुण रूपी इधन को तुरन्त भस्म कर देता है ॥६२॥

इसी का दूसरा पुत्र अहकार है, जो सदैव दूसरो की निन्दा करने में तत्पर रहता है। अपने गुणो से सदा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ वह तीनो लोकों को तिनके के बराबर भी नही समझता ॥६३॥

आप मोह की मधुरभाषिणी तथा तीनो लोको को छलने वाली पुत्री शठता को देखते हैं। आश्चर्य है, इसे मार कर भी मनुष्य को स्त्री-हत्या का पाप नहीं लगता ॥६४॥

जिसके जीवित रहने के कारण शत्रु मोह का कुल, यद्यपि तुमने उसे ध्वम्त कर दिया है, पुन उत्पन्न हो जाता है, तीनो लोको का अपकार करने वाले उसे तुम लोभ नामक योद्धा जानो ॥६५॥

प्रतिपक्षियो के बीच जो कुकथा नाम की एक चतुर्मुखी वीर योद्धी है, इसने सद्बोध, सदागम आदि तुम्हारे सैनिको को बहुत पीडित किया है ॥६६॥

किन्तु हे स्वामी! आज विपक्षी राजा का भाग्य प्रतिकूल है। अतः विजय तुम्हारे हाथ मे ही है। इसमे सन्देह नही ॥६७॥

जब मन्त्री सुबोध यह कह रहा था, तब (सहसा) यह कोलाहल उठा। (सुनाईपडा)—हे योद्धाओ। शीघ्र तैयार हो जाओ, शत्रु की सेना आगयी है ॥६८

तब सयम के उद्यमी सैनिको ने प्रसन्न होकर कवच पहना। मन भावी इष्ट और अनिष्ट को पहले कब जानता है? ॥६९॥

तब शत्रु-सेना को सामने देखकर राजा मोह के यह कहने पर कि अब मेरी विजय होगी या नही, मन नामक ज्योतिषी ने कहा ॥७०॥

अजी! भाग्य की गति रहस्यपूर्ण है। ब्रह्मा (भी) उसे ठीक-ठीक नहीं जानता। शकुन शुभ नही है। अत तुम्हें विजय मिलनी कठिन है ॥७१॥

मोहराज ने मुस्करा कर कहा—हे मूढ नीच ज्योतिषी। तूने (ज्योतिष लगाने मे) गलती की है। यदि मेरु भी समुद्र को पार कर जाए तो भी मेरी पराजय नही हो सकती (अर्थात् मेरु भले ही सागर के पार चला जाए किन्तु मैं कदापि पराजित नही हो सकता) ॥७२॥

तब क्रुद्ध होकर मोहराज, अहकार के कारण शत्रुओ को तिनके के बराबर भी न समझता हुआ, राग आदि सेनानायको के साथ तेजी से युद्ध के लिये उठा ॥७३॥

उत्पात रूपी हाथियो को आगे किया गया, मद-हास्य आदि घोड़े

हांके गये, महारथी विषय चल पडे और अभिमान आदि सैनिक तैयार हो गये ॥७४॥

उस समय मथे हुए सागर के समान मोह की अतीव दुस्सह तथा प्रचण्ड सेना को देखकर चरित्रराज के वीर सैनिक कापने लग गये ॥७५॥

तब तत्त्वविमर्श रूपी पराक्रमी मन्त्री ने सैनिकों को कहा—डरो मत, हौसला रखो। धैर्यशाली ही शत्रुओ को जीतते हैं ॥७६॥

विकलाग होता हुआ भी राहु यम के पिता तेजपति सूर्य को भी ग्रस लेता है। सफलता निश्चय ही पराक्रम के अधीन है ॥७७॥

जैसे शेर, अकेला भी, सैकडो हाथियो को मार देता है, यदि मैं उसी तरह मोह के सारे सैनिको को न मारू तो मैं मर्द नही ॥७८॥

इसके बाद युद्ध की तुरहियो का शब्द होने पर तथा सैनिको की हुकारो से आकाश के गूंजने पर दोनो सेनाओ का आपस मे भयकर युद्ध हुआ ॥७९॥

उन दोनों सेनाओ मे से कभी किसी की विजय होती और कभी किसी की पराजय। इसलिये जयलक्ष्मी उनके बीच मे पक्षिणी की तरह जल्दी-जल्दी इधर-उधर घूम रही थी ॥८०॥

तब सयमराज के बलोद्धत तथा क्रुद्ध सैनिको द्वारा ब्रह्मरन्ध्र को तोड़ने वाली मजबूत लाठियो से सिर फोड देने पर काम, बलहीन होकर, अपनी पत्नी-सहित (धरती पर) गिर पडा ॥८१॥

इसके बाद जयशील ध्यान रूपी योद्धा ने शुभलेश्या रूपी बहुत भारी गदा से राजा मोह के अनेक सैनिको को पीस कर चूरा बना दिया ॥८२॥

तब यह निश्चय करके कि आज मेरा अथवा सयमराज का अन्त होगा स्वय राजा मोह, अपने लोभ रूपी सैनिको सहित, युद्ध करने के लिये उठा ॥८३॥

तब पराक्रमी संयमभूपति ने, तेजी से भागते हुए उस पर विशद अध्यवसाय रूपी मुद्गरों से प्रहार करके उसे चूर-चूर कर दिया ॥८४॥

तदनन्तर राजाओं तथा देवेन्द्रों द्वारा प्रशंसित चरित्रराज ने अपने सैनिकों के साथ नेमीश्वर रूपी राजधानी में फूल बरसाते हुए महान् उत्सव के साथ प्रवेश किया ॥८५॥

तब घातिकर्मों का क्षय होने से श्रीनेमिनाथ को अनुपम एवं निर्बाध केवल ज्ञान तथा दृष्टि प्राप्त हुए, जिनके प्रभाव से प्राणी समस्त लोक और अलोक को सदैव हस्तामलकवत् जानता और देखता है ॥८६॥

द्वादश सर्ग

तब भगवान् चांदी, सोने तथा मणियो के वृक्षो के मध्य स्थित, देवताओ द्वारा निर्मित सिंहासन पर बैठकर ऐसे शोभित हुए जैसे सुमेरु पर्वत के शिखर पर सटा हुआ नया काला बादल ॥१॥

तत्पश्चात् यह जानकर कि भगवान् को उत्तम केवल ज्ञान प्राप्त हो गया है, हर्ष के सागर यदुपति कृष्ण उनकी वन्दना करने के लिये नागरिको के साथ तुरन्त चल पडे। बुद्धिमान् आदमी धार्मिक काम मे देर नहीं करता ॥२॥

प्रेम से परिपूर्ण मन वाले नागरिको ने, मार्ग मे जाते हुए, नगर, उद्यान आदि देखने की इच्छुक अपनी प्रियतमा को, हाथ से सकेत करके यह वचन कहा ॥३॥

हे सुन्दरी! नाना प्रकार के वृक्षो तथा गहन लताओ के कुंजो से युक्त, फलो से लदे हुए, खुशबूदार पुष्पो से मन को हरने वाले तथा अनेक पक्षियो द्वारा सेवित इस पवित्र वन को देख ॥४॥

प्रिये! यह आम का वृक्ष मदमस्त भवरियो एव कोयलो के शब्द से तथा वायु से हिलते हुए पत्तो रूपी हाथो के सकेत से भी, फल चाहने वाले व्यक्ति को बुलाता हुआ-सा दिखाई देता है ॥५॥

हे विशालनयनी! ऊपर मण्डराते भौरो की मण्डली से अपनी सुगन्ध की महिमा को प्रकट करने वाले इस केवडे के वृक्ष को देखो, जो हिलते पत्तो से मानो अन्य पेडो को साफ नीचा दिखा रहा है ॥६॥

प्रिये! ये शीतल सरोवर दूसरो की भलाई के लिए सदा प्रचुर निर्मल जल धारण करते हुए भी मन्दबुद्धि (जडाशय-जलाशय) कहलाते हैं। सचमुच यश पुण्यो से मिलता है ॥७॥

हे विशालनयनी ! अपने फल के भार से झुके हुए पके धानो से युक्त वन को देखो, जिसकी किसान स्थान-स्थान पर तोते, मैना, कव्वे, कोयलो आदि पक्षियो से रखवाली कर रहे हैं ॥८॥

हे कमलाक्षी ! मेरा अनुमान है कि तालाव मे सूर्य के प्रकाश से खिला हुआ यह कमल, जिसकी पखुडियाँ हवा मे हिल रही हैं, तुम्हारे मुख से डरा हुआ-सा काप रहा है ॥९॥

प्रिये ! गुड और खाण्ड को पैदा करने वाले गन्ने का रस यद्यपि मधुर है तथापि यह तुम्हारे अधर से घटिया है क्योंकि अधिक सजावट से वस्तु का रस (सौन्दर्य) समाप्त हो जाता है ॥१०॥

हे मृगनयनी ! मधुर गीतो की ध्वनि के रस का आस्वादन करके ये हरिण, मानो पी गयी वायु से ठेले जाते हुए, हरिणियो के साथ वन मे लम्बी-लम्बी चौकडियाँ भर रहे हैं ॥११॥

प्रिये ! सयमी जिन ने भोजराज की पतिव्रता पुत्री (राजीमती), अपने सम्बन्धियो तथा राज्य को भी तिनके की तरह छोडकर जहाँ तप करते हुए विहार किया, यह वह उज्जयन्त पर्वत है ॥१२॥

हे मादक आँखो वाली ! देखो, पर्वत के वन मे यह आम है, यह खदिर, यह सफेदा, ये एक-साथ उगे हुए टेसू और मौलसरी हैं, ये कुटज के दो पेड हैं, यह चीड है और यह चम्पक ॥१३॥

प्रिये ! सामने तुम जगत्प्रभु का चमकीला तथा निर्मल सभागृह देख रही हो। अपनी अतिशय भक्ति प्रकट करते हुए देवो और असुरो ने प्रसन्न हो कर इसे यहाँ बनाया है ॥१४॥

प्रिये ! ये देवागनाएँ, जिन्होंने अपने शरीर की कान्ति से समस्त दिशाओ को प्रकाशित कर दिया हैं, जो पवित्र अलौकिक भूषण पहने हुए हैं तथा जिनके पैरो मे नूपुर बधे हैं, अपने प्रियतमो के साथ प्रभु की सभा में आ रही हैं ॥१५॥

मार्ग मे अपनी प्रियाओ को नई-नई उत्तम वस्तुएँ दिखाते हुए ये नागरिक, परिजनो से शोभित कृष्ण के साथ, झट परमेश्वर की सभा मे पहुँच गये ॥१६॥

तब वहाँ समस्त पशुओ को विरोध से मुक्त देखकर चकित हुए आनन्दशील श्रीकृष्ण वाहन को छोडकर अपने परिजनो के साथ सभा मे प्रविष्ट हुए ॥१७॥

जिनेश्वर के प्रति अपूर्व भक्ति प्रदर्शित करते हुए देवताओ के द्वारा, सभा के आंगन मे घुटनो की ऊँचाई तक बरसाए गए नाना रगो के फूलो की प्रशसा करते हुए, देवताओ की दुन्दुभियो के ऊँचे तथा मधुर स्वर को प्रसन्नता से सुनते हुए, तीर्थंकर के नाम तथा कर्म से उत्पन्न जिनेन्द्र की उत्कृष्ट समृद्धि का बार-बार वर्णन करते हुए उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) वहा प्रभु के सिर पर धारण किए गये चन्द्रमा के समान सुन्दर तीन छत्र देखे ! वे छत्र मणियो तथा मोतियो की राशि के समान चमकीले थे और जिनेश्वर के तीनो लोको के आधिपत्य को सूचित कर रहे थे ॥१८-२०॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने हिलती हुई दो चवरियो के मध्य बैठे जगत्प्रभु का मुख देखा, जो श्वेत राजहसो के जोडे के बीच खिले सुन्दर कमल के समान था ॥२१॥

प्रभु की अद्भुत रूप-सम्पदा को देखकर उस बुद्धिमान् को, तीनो लोको के पवित्र पदार्थो को बार-बार मन मे आदरपूर्वक याद करने पर भी (उसका) कोई उपमान नहीं मिला ॥२२॥

सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्रबिम्ब से भी अधिक सौम्य तथा नये मेघ के समान सुन्दर आकृति वाले ईश्वर को देखकर मुरारि मन मे बहुत प्रसन्न हुए ॥२३॥

तब श्रीकृष्ण ने पहले विधिपूर्वक उनकी परिक्रमा की, फिर अपने जन्म और जीवन को सार्थक मानते हुए विनय और भक्ति से झुककर प्रभु के चरणकमलो मे प्रणाम किया ॥२४॥

इसके बाद केशव ने हाथ जोडकर भगवान् की स्तुति करना प्रारम्भ किया, जिनके चरण-कमल, प्रणाम करते हुए देवराज इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग मे लगे स्थूल रत्नो की रगड मे चमकीले बन गये थे ।।२५।।

भगवन् ! आपके चन्द्रतुल्य मुख को देखने से मेरी आखे आज पहली बार सार्थक हुई हैं, और हे जगत्प्रभु ! यह भवसागर मेरे लिये चुल्लू मात्र बन गया है ।।२६।।

भगवान् ! शान्त दृष्टि से अमृत की वर्षा-सी करते हुए, करुणा के सागर और ज्ञान के भण्डार आपको देखकर यह जनार्दन अत्यधिक आनन्द प्राप्त कर रहा है ।।२७।।

हे जिनेन्द्र ! लोग जो यह कहते हैं कि यह ससार आसानी से नारायण के उदर में समा जाता है, हे देव ! आपके दर्शन से उत्पन्न असीम हर्ष ने उसे मिथ्या बना दिया है ।।२८।।

हे प्रभु ! ससार कहता है कि तीर्थंकर की सभा मे सब वैरी अपना वैर छोड देते हैं, किन्तु प्राणी आपके सामने ही आन्तरिक शत्रुओ को (क्रोध, लोभ, मोह आदि को) मार रहे हैं, यह महान् आश्चर्य है ।।२९।।

भगवान् ! आपके पीछे खडा नवीन कोपलो से युक्त यह सरस चैत्य-वृक्ष ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रभु के दान से पराजित कल्पवृक्ष, रूप बदल कर, यहाँ आपकी सेवा करने के लिये उद्यत हो ।।३०।।

नाथ ! पुष्ट स्तनो वाली देवागनाएँ भी, जिन्होंने शरीर पर उज्ज्वल हार पहन रखे थे, जिनके मुख की कान्ति अत्यधिक दीप्त थी, अगविक्षेप सुन्दर थे और जिनकी कान्ति नाचने से बढ गयी थी, तुम्हारे मन मे विकार पैदा नही कर सकी ।।३१।।

हे प्रभु ! भले ही सामान्यत. भी करोड देवता सदैव आपके पास रहे, किन्तु अनुपम सद्बुद्धि-सहित लक्ष्मी उसी को जन्मपर्यन्त प्राप्त होती, है जो आपकी सेवा करता है ।।३२।।

हे पुण्यशाली जिनेन्द्र ! रोग, दुर्दशा आदि तभी तक हैं, जब तक कोप की वृद्धि को खण्डित करने वाले, भक्तों के रक्षक और पुण्य तथा सुख के वर्धक आपके दर्शन नहीं होते ॥३३॥

हे दयालु ! पहले एक-साथ मेरे रोग और शत्रु मोह को नष्ट करो, उसके बाद मुझे यथार्थ ज्ञान-सहित असीम लक्ष्मी से युक्त वह (परम) पद प्रदान करो ॥३४॥

हे जिन ! उत्तम आभूषणों से शोभित, अनुपम भक्ति-रस में लीन कोकिलाओं के समान मधुरभाषिणी अप्सराओं ने, देवताओं के नाथ कुल-पर्वतों पर बैठकर इस प्रकार आपकी कीर्त्ति का गान किया जैसे मुनि परम अक्षर का जाप करता है ॥३५॥

परम सुन्दर जिनराज ! जो मनुष्य आपकी स्तुति करता है, वह संसार में लक्ष्मी की निधि बन कर अतीव शोभा पाता है और सरस्वती उसे मनोहर प्रतिभा से अत्युत्तम बना देती है ॥३६॥

मुक्तावस्था को प्राप्त नेमिजिन इस अपरिमित लक्ष्मी और सत्यता का बार-बार विस्तार करें। इसके पश्चात् यम को पीडित करने वाले वे पूज्य दरिद्रता को पूर्णतया दूर करें ॥३७॥

हे समृद्धि के दाता ! हे पूज्यतम ! पहले आप मेरे विस्तृत दम्भ का नाश करो, फिर हे पूज्य ! मनुजेश ! परमज्ञानी ! हे संयमी ! मेरी रक्षा करो ॥३८॥

हे जगद्गुरु ! रागरहित आपने संसार में आकर उसकी रक्षा करते हुए, मोतियों की माला से शोभित सुन्दर पत्नी राजीमती को छोड़ दिया, यह दुःख की बात है। वह मनोहर विलासों, क्रीडाओं तथा केलियों के लिये बाग है, लोक और अलोक में निष्कलंक है और उसकी अलकें कोकिलाओं और भ्रमरों के समूह के समान हैं ॥४०॥

गम्भीर रोगों को दूर करने वाले, संसार में शत्रु-रूपी पर्वत के लिये

इन्द्र, शरीर से सुन्दर, यथार्थ ज्ञान रूपी कमल के लिये तेजस्वी सूर्य, सुखमय एव श्रेयस्कर जिन की पूजा करो ।।४१।।

हम कपटराशि-रूपी वृक्षो को उखाडने वाले पवन, कलहो को दूर करने वाले, आनन्द-रूपी तारो के चन्द्रमा, मगल तथा सुख के दाता, इस महान् जिन की पूजा करते हैं ।।४२।।

तब भक्ति और प्रेम के वशीभूत हृदय से इस प्रकार स्तुति करके श्रीकृष्ण के हट जाने पर जिनेन्द्र नेमिनाथ ने ममस्त सशयो को दूर करने वाली अमृत-तुल्य धर्मदेशना प्रारम्भ की ।।४३।।

जैसे सूर्य के बिना दिन नही होता वैसे ही पुण्य के बिना सुख नही मिलता। इमलिये सुख चाहने वाले बुद्धिमान् को सदैव आदरपूर्वक पुण्य अवश्य करना चाहिये ।।४४।।

पुण्य से लक्ष्मी सदैव वश मे रहती है, पुण्य से पृथ्वी पर यश फैलता हैं, पुण्य से सभी कार्य सिद्ध होते हैं, पुण्य से निश्चय ही परम पद प्राप्त होता है ।।४५।।

ससार मे लोगो को व्याधि, विपत्ति, प्रियजन से वियोग, दरिद्रता धन का नाश, शत्रु से पराजय, दूमरे के घर मे चाकरी, मानसिक व्यथाएँ सदा पाप के उदय से होती हैं ।।४६।।

सम्बन्धी और मित्र नष्ट हो जाते हैं, शरीर और धन भी नष्ट हो जाता हैं, केवल इहलोक और परलोक मे सचित पुण्य नष्ट नही होता ।।४७।।

नेमिनाथ की इस धर्मदेशना को सुनकर भवसागर के पार जाने के इच्छुक कुछ लोगो ने दीक्षा ग्रहण की और कुछ ने प्रसन्न होकर श्रावक धर्म स्वीकार किया ।।४८।।

तब उग्रसेन की पुत्री राजीमती ने उठकर और जिनेश्वर को प्रणाम करके यह कहा—हे जगत्प्रभु ! प्रसन्न होओ, मुझे करने योग्य काम बताओ और मुझे सदा के लिये अपनी सहचरी बनाओ ।।४९।।

तदनन्तर दया से पसीजे हुए हृदय वाले जिनेन्द्र ने उसे चरित्र के रथ पर बैठाकर मोक्ष रूपी उस निर्मल नगर मे भेज दिया, जहाँ स्वय उन्हे भी जाना अभीष्ट था ॥५०॥

प्रभु भी असंख्य भव्य जनो को भवसागर से पार लगा कर और देवो द्वारा सेवित तीर्थंकर की समृद्धि को भोग कर, समस्त कर्मों के क्षीण होने पर, मानो अपनी पहले की प्रिया को मिलने की इच्छा से तुरन्त परम पद को चले गये ॥५१॥

वहाँ तीनो लोको के स्वामी नेमिप्रभु ने, शरीर आदि से मुक्त होकर, वह अनश्वर, अतुल तथा शाश्वत आनन्दरूप सुख भोगा, जिसकी तुलना करने मे मनुष्यो तथा देवताओ का राशिभूत सारा सुख भी समर्थ नही ॥५२॥

श्वेताम्बर कीर्त्तिराज ने काव्य-प्रणयन के अभ्यास के लिये इस काव्य की रचना की है, जो श्री नेमि जिनेश्वर के चरित्र से पवित्र है ॥५३॥

नेमिनाथमहाकाव्यगता

सुभाषितनीवी

१ शिक्षितो हि शुको जल्पेदपि तिर्यङ् नृभाषया । १.८.
२. मन्मथप्रसराभिन्तु को वा स्त्रीभिर्न खण्डित. । १ १५
३ केवलोऽपि यली तिह किं पुनर्ब्रूटकक्व्ढ । १ ४८.
४. अभ्यागतेषु प्रतिपत्तिवेदिनो खल्वौचितीं न स्खलयन्ति कुत्रचित् । २ ३१.
५ परश्रिय द्रष्टुमशक्नुवत्तमा भवन्त्यजस्रं लघवो ह्यवाङ्मुखा । २ ४०.
६. ही प्रेम तद्यद्वशवर्तिचित्त. प्रत्येति दुःख सुखरूपमेव । २ ४३.
७ सन्तो हि शत्रुष्वपि पथ्यकारिण । २ ४४
८ मनोहर केवल इन्द्रनील पुन. सुवर्णोपरि सन्निवेशी । ३ ४
९. विचार्य वाच हि वदन्ति धीरा. । ३ १८.
१० इष्ट यदिष्टाय निवेदनीयम् । ३ २९.
११. कुत्रापि किं निर्मलपुण्यभाजा सम्पद्यते नात्र समीहितोऽर्थं । ३ ३४.
१२. महात्मना जन्म जगत्पवित्र केषा प्रमोदाय न जाघटीति । ३.३८.
१३. किं स्यु सुमेरुषण्डेषु सर्वे वृक्षा. सुरद्रुमा' ? ४.१४.
१४. विपद्यप्युपकुर्वन्ति पूतात्मानो हि निश्चितम् । ४.२३.
१५ नून सुमनसा लोके परार्थैकफला गुणाः । ४ २६
१६. पुण्याधिकानाममरा हि भृत्या । ४ ४३.
१७ निश्चित हि परमर्द्धिहेतवे जायतेऽधिकगुणस्य सगम. । ४ ४६.
१८. छिद्रेषु नून प्रहरन्ति वैरिण । ५ २.
१९ समागते हि व्यसने विवेकी धैर्यावलम्ब विरल. करोति । ५ ५.
२०. निन्दन् स्वपाप गुरुपादमूले मुक्तो भवेत्तेन यतः शरीरी । ५.१६.
२१. उच्चा स्थितिर्वा क्व भवेज्जडानाम् । ६ १३.

२२. गुणोत्तमाना विहिता हि सेवा फलं जडेभ्योऽपि ददाति सद्य. । ६.१४.
२३. आहन्यमाना अपि किं गभीरा. कदापि कुत्रापि खर रसन्ति । ६ १६
२४. स्थान पवित्राः क्व न वा लभन्ते । ६ १६.
२५. अग्रेऽपि हस' कमनीयमूर्तिर्हेमाम्बुजातैः किमुतासमग. । ६ २०.
२६. किं प्रेरितो देव ! शिशुर्जनन्या गिरा स्खलन्त्यापि न वक्ति नाम ।६ २७.
२७. तुल्या हि तुल्येषु रतिं लभन्ते । ६.३३
२८. हृष्यन्ति सिद्धे हि न के स्वकार्ये । ६ ६१.
२९. वचसा भूभुजा सिद्धि । ७ ११
३०. परिचिते ननु सत्यपि सुन्दरे किल जनोऽभिनवे रमतेऽखिल । ८.३.
३१. सुजनता जनतापहृतो क्षमा । ८ १०.
३२. अयुक्त-युक्त कृत्य-संविचारणा विदन्ति किं कदा मदान्धबुद्धय' । ८.४४.
३३. गतदतीषुजने बलपुष्टिदे भवति कस्य न दर्पघनच्युति । ८ ४५
३४. काले रिपुमप्याश्र त्सुधी । ८ ४६.
३५. गतिर्विधातुर्विषमेति शंके । ८ ५१.
३६. सकलोऽप्युदितं श्रयतीह जनः । ८ ५३.
३७. मृगपतिर्निवसन् विपिनान्तरेऽपि सरमानि फलानि कदात्ति किम् । ८ ६२
३८. भवति तावदिभस्य करो दृढ स्पृशति यावदमु' न मृगाधिप. । ८ ६२.
३९. ससारे सारभूतो य. किलाय प्रमदाजन । ९ १५
४०. कुत्र तत्त्वावबोधो वा रागान्धाना शरीरिणाम् । ९.१६.
४१. पक्व निम्बफल वक्त्यदृष्टप्रियालुक ।९.२०
४२. अवाच्य शिष्टलोकस्य ग्रामीणजनतोचितम् । ९.२७.
४३. अविभाव्यात्मन. कष्ट पितॄन् प्रीणन्ति नन्दना । ९ ३३.
४४. सदा सिन्धो प्रमोदाय चन्द्रो व्योमावगाहते । ९.३४.
४५. दूरे चन्द्रश्चकोराणा ज्योत्स्नेव कुरुते मुदम् । ९ ६१.
४६. स्त्रीणामहो दर्शनलोलुपत्वम् । १० १७.
४७ चक्षुर्विलोल खलु कामिनीनाम् । १०.२२.

४८. स्वरूपमावेदयतीह पूर्वं वाह्यैव चेष्टा किल सज्जनस्य । १०.४०
४९. विरहय्य निजाः स्वधर्मिणीर्नहि तिष्ठन्ति विहगमा अपि । ११.२
५०. अथवा सरिता पतिर्निजा स्थितिमुज्झन्निह केन वार्यते । ११.५
५१. परिगृह्य परस्य वस्तु यन्नहि धीराः प्रविशन्ति गह्वरे । ११.८.
५२. नियतं दुर्बलघातको विधिः । ११.१०.
५३. विजहाति मरु यदम्बुद. स हि दोषो मरुदुर्भगत्वज । ११ ११.
५४ किं किं न भवेच्छरीरिणा प्रतिकूले हि विधौ शुभेतरत् ? ।११.१३.
५५ फलित कस्य समस्तमीहितम् । ११.१४.
५६. सुखवोध्यो हि विशारदो जन. । ११.१६.
५७ शुद्धिर्न तपो विनात्मनः । ११ २३
५८ रिपवस्तरवश्च दुर्द्धरा ननु पश्चाद् दृढवद्धमूलका । ११ २८.
५९ अनिहत्य रिपून् स्वगर्वतो गतचिन्तो निवसेन्नृपोऽत्र य ।
सविले स्वपितीह मूढधी. स परिक्षिप्य हविर्हुताशने ॥ ११.३०.
६०. नहि कार्या हितदेशना जडे । ११.४८.
६१. प्लवगस्य पराभवो ध्रुव मृगनाथे मरणैकहेतवे । ११.५३
६२. वलिनो खलु मानशालिनो विषहन्ते न रिपो. पराभवम् । ११ ५६.
६३ प्रथम वहुश प्रवुध्यते मन आगामि शुभाशुभ कदा ? । ११.६६.
६४ गहन ननु दैवचेष्टितम् । ११ ७१.
६५ ननु धीरैं क्रियते द्विपज्जय. । ११ ७६.
६६ नियत सत्त्ववशा हि सिद्धय. । ११.६७:
६७ न हि धर्मकर्मणि सुधीर्विलम्बते । १२ २.
६८ सुकृतैर्यशो नियतमाप्यते । १२ ७.
६९. अतिभूषणाद् भवति नीरसो यत. । १२ १०.
७०. सुकृत सदैव करणीयमादरात् । १२ ४४.

पद्यानुक्रमणिका